TEXT FLY
WITHIN THE
BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY
OU_182138
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1 A23 J Accession No. G.H. 188

Author अधिकारी, महावीर

Title जीवन के मोड़ 1952

This book should be returned on or before the date last marked below.

पूज्य पिता जी को

प्रस्तावना

मेरा यह पहला कहानी-संग्रह पुस्तक के रूप में पाठकों के समक्ष आ रहा है। मुझे विश्वास नहीं है कि कहानी लिखने में मुझे सफलता मिल सकी है। इन कहानियों के लिखने में मुझे कभी कोई कलात्मक दैवी प्रेरणा नहीं हुई। हाँ इतना तो हुआ है कि मेरे निजी जीवन में, जो दैवयोग से अनेक घात-प्रतिघातों से गुजरा है, अनेक क्षण ऐसे आए हैं जब मैंने बेचैनी से यह अनुभव किया है कि वह जो कुछ मेरे जीवन में आया है मानवीय प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है और बदलना चाहिए। क्योंकि इन परिस्थितियों में मानव की स्वाभाविक आशा-अभिलाषाओं की परिपूर्ति और उन्नयन का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता। अपनी इसी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए मैंने पात्रों की सृष्टि की है। अधिक सही कहना यही होगा कि मैंने जीवित पात्रों का अपने चारों ओर की दुनिया से चुनाव किया है। ये पात्र कितने यथार्थ बन पाए हैं यह देखना तो पाठकों का ही काम है।

एक और भी चीज है जिसने मुझे लिखने की प्रेरणा दी है। वह यह कि हमारे चारों ओर जो दुनिया है वह अनवरत रूप से एक विकासोन्मुख चेतना की सृष्टि करती जाती है। आदमी और उसके चारों ओर की सृष्टि के अन्तर-संघातों से हमारी चेतना का स्वरूप प्रतिष्ठित होता है—जो आज शुभ और मांगलिक प्रतीत होता है वास्तविकता उसके यथार्थ अथवा अयथार्थ को जल्दी ही प्रकट कर देती है और हम आने वाले युग की आहट लेते हैं। विकास का यह क्रम अपरिहार्य है और हमारे ज्ञान-विज्ञान की तह में यही एक प्रक्रिया आदिम काल से काम कर रही है। इसलिए मुझसे यह नहीं बन पड़ा है कि किन्हीं निर्णीत सामाजिक सत्यों की

उद्घोषणा अपने पात्रों के रूप में करूँ। मेरा प्रयास केवल यही रहा है कि मेरा पात्र, जो जहाँ है वहाँ अपने निजी जीवन को सामूहिक चेतना के प्रति जागरूक रखे और उद्भ्रांत मनोविकारों के आवेश में अपने को समाज-द्रोहिता के पथ पर न बढ़ने दे, क्योंकि स्वैराचार और क्रांतिकारिता वस्तुतः एक ही भाव की दो संज्ञाएँ बन जाती हैं अगर समाज-द्रोही तत्त्वों से विद्रोह करते समय हमारी सामूहिक चेतना विलुप्त हो जाती है। क्रांतिकारी विचारों का उदय सर्वप्रथम हमारे बुद्धि-प्रदेश में ही होता है, और उसे हमारे सामाजिक जीवन के प्रभावों का योगफल ही मानना चाहिए। स्वतंत्र वह है जो बुद्धि से मुक्त है। बुद्धि से मुक्त वह है जो अपनी चेतना को समूह की चेतना के साथ विलीन कर चुका है। जो बुद्धि से मुक्त नहीं, वह देह से मुक्त और शक्तिशाली होते हुए भी मुक्त नहीं हो पाता। बहुधा लोगों की ऐसी ही कोटि में से समाज-द्रोही तत्त्वों का जन्म होता है। हमारे पड़ोस में और समाज में सभी लोग अच्छे हैं पर उनमें से अनेक नित्य-प्रति समाज-द्रोही कार्य करते हैं। लेकिन क्यों करते हैं ये लोग समाज-द्रोही काम? कारण स्पष्ट है। इसलिए करते हैं कि उन्हें अपने कार्यों के परिणाम का स्वयं पता नहीं होता। जिस समय आप उन्हें जीवन का यथार्थ समझा देते हैं तभी वह अपना सुधार करने के लिए बेचैन हो उठते हैं। साहित्यकार का दायित्व इसीलिए आज अधिक गम्भीर हो उठा है। अपने पाठकों तक पहुँचने के पूर्व उसे अपने को भी चैतन्य बना लेना होता है, वरना कितने ही साहित्यकार ऐसे हैं जो अपनी मांगलिक प्रतिभाओं का उपयोग समाज-द्रोह के लिए करते हैं। इसलिए हमारे चारों ओर जीवित यथार्थ ही हमारी प्रेरणा का सही उद्गम स्थान है। इस कहानी संग्रह में सभी रचनाएँ बुद्धिपरक हों, यह बात नहीं है। उनकी प्रेरणा ऐसे प्रदेश से भी आई है; जिसे आप संवेदनशीलता का प्रदेश पुकारते हैं। कारण कि लेखक ने स्वयं जीवन की कुरूपता को केवल देखा ही नहीं बल्कि उसको सहा भी है। शोषण-उत्पीड़न के अपमान को भी सहन किया

है। पर उसका अपना जीवन बौद्धिक विद्रोह के स्तर से आगे कभी भी बढ़ा नहीं। नगरों के कृत्रिम जीवन से और इस कृत्रिम जीवन में अपेक्षाकृत अधिक चैतन्य अपने को स्वीकार कर लेने से जो बौद्धिक नेतृत्व प्रस्तुत करने की भावना पैदा होनी अपरिहार्य थी वही इन कहानियों में उभर आई है। मैं स्वयं इस सत्य से अवगत हूँ कि यह साहित्यकार के व्यक्तित्व का एक पहलू है और समूचे व्यक्तित्व का एक रचना से प्रकट हो सकना प्रायः असम्भव है। पर मैं समझता हूँ कि समझदार होना भी कोई कम महत्त्व का काम नहीं है। दुनिया के अधिकांश कर्मवीर और त्यागवीर वही रहे हैं जो समझदार थे कारण कि विवेक-हीन शौर्य भी पशुता का लक्षण है, मनुष्यता का नहीं।

कहानी का प्रधान गुण कहने का ढंग है। जो कहा जाता है वह महत्त्वपूर्ण हो तो और भी अच्छा है। कहने का ढंग शायद मुझे नहीं आता है। यों कई अभिभावकों ने समय-समय पर अपने आशीर्वचनों से इन प्रयत्नों को पुरस्कृत किया है, पर फिर भी मैं अपने पाठकों को ही उसका अन्तिम निर्णायक मानता हूँ।

अपने शब्द-निवेदन करते-करते मुझे स्वर्गीय श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक का स्मरण हो आता है। सन् १९४१ में मैं सर्वप्रथम उनके सम्पर्क में आया। उन दिनों मैं अपनी पैदल यात्रा पर निकला हुआ था और कानपुर में शर्मा जी के निवास-स्थान पर ही ठहरा था। वह कितने महामानव थे इसका भान उस समय नहीं हुआ था। कारण कि उन दिनों मेरे विश्वासों में अल्हड़ता अधिक थी और अपनी भूलों पर भी गर्व करने में आनन्द आता था। उन्होंने अपने हाथ से मेरे पैरों के छालों पर मेंहदी लगाई थी और मेरी रचनाओं को धैर्य के साथ सुना था और प्रशंसा की थी, प्रोत्साहन दिया था और श्री भगवतीचरण वर्मा के लिए—जिनके स्नेह और कृपा का आश्रय मुझे आगे चलकर मिला—पत्र लिखते हुए मेरे

लिए अच्छे भविष्य की घोषणा भी कर दी थी। उस समय की लिखी उन कहानियों को मैंने इस संग्रह मे लिया भी नहीं है। यह सोचकर तो उनकी उदारता और महानता का स्मरण करके मेरे नेत्रों में आँसू छलक आते हैं और मेरा दिल बैठ जाता है। मुझे लगता है कि बड़ा कलाकार वही हो सकता है जो बड़ा हृदय रखता हो। जिसका बड़ा हृदय है, उसी में दूसरों का दर्द स्थान पा सकता है।

'प्रेरणा' या 'उत्तरदायित्व' और 'जीवन के मोड़' का हर पात्र अपने अन्तस् के अत्यन्त स्वाभाविक आवेशों और आवेगों को प्रकट करते हुए भी अन्त में अपने सामाजिक दायित्वों को पहचान लेता है और अपने-आपको खोकर उस आत्मा को खोज लेता है जो विवेकशील है और जो मानवीय दायित्वों के सम्मुख अपनी निजी ईर्सा को आँख का आँसू बनाकर पी जाता है और बलिदान और उत्सर्ग का एक खामोश उदाहरण प्रस्तुत करता है जो शायद अधिक कसकपूर्ण हो, अधिक आत्मबोध कराने वाला हो।

एक बात का मुझे स्वयं आश्चर्य है कि वर्ग-चेतना को पैदा करने, और वर्ग-संघर्ष को उत्तेजन देने की बात को जो लोग लेखक का दायित्व स्वीकार करके चलते हैं उनके साथ पूरी सहमति रखते हुए भी मैं अपनी इन पंक्तियों में उनका नारा क्यों नहीं लगा सका। सोचता हूँ यह दोष मेरे निज का है, सिद्धांत का नहीं हो सकता। यह बात सहृदय आलोचकों के लिए छोड़ देता हूँ।

—महावीर अधिकारी

क्रम

१. जीवन के मोड़	...	...	१
२. पड़ोस	...	...	१८
३. प्रो. धीमर्जा	...	...	३१
४. लाशों के ढेर में	...	...	४२
५. उत्तरदायित्व	...	...	५१
६. शरणार्थी	...	...	८०
७. अमानत	...	...	९४
८. हरी चुनरी	...	...	११०
९. सिगार वाला	...	...	११७
१०. चुनाव	...	...	१२८
११. ब्लड-बैंक	...	...	१४१
१२. अपराध किसका ?	...	...	१५४
१३. प्रेरणा	...	...	१६३
१४. घर की हवा	...	...	१७७
१५. अपना पराया	...	....	१९१
१६. बात की बात	...	...	२०५
१७. लम्बी नाक	...	...	२१४

१

जीवन के मोड़

प्रोफेसर विक्रम का परिचय मिस कल्याणी से सबसे पहले एक साहित्य-गोष्ठी में हुआ था, जहाँ वह अनिमंत्रित और क्षमा-याचना करती हुई आई थी और विक्रम ने उसे अपने निकट ही बैठने को स्थान दे दिया था। यह सौजन्य दिखाने में विक्रम को स्पष्टतया कुछ भी झिझक न हुई; क्योंकि कल्याणी में ऐसा कुछ भी नहीं था, जो उसमें लेश-मात्र भी झिझक पैदा करता।

प्रोफेसर विक्रम के एक तरफ उसकी पत्नी और दूसरी ओर कल्याणी बैठी थी। विक्रम अनायास अपनी पत्नी और इस अजनबी लड़की की तुलना करने में तल्लीन हो गया, और उस पर्यवेक्षण में उसने देखा कि कल्याणी की आँखों में शरद् की हिरती-फिरती छाया के समान एक मुस्कराता हुआ सपना है। इस सपने की एक ही झलक से विक्रम झटका खा गया। और उसी क्षण उसे यह अनुभव हुआ कि संतोष के अनिन्द्य सौन्दर्य की पकड़ उसके दिल पर कुछ ढीली-सी पड़ती जा रही है।

बात कोई खास नहीं थी। उसकी आँखें भूरी थीं और घनी बरौनियों की छाया से ढकी थीं। उसके केश घुँघराले अवश्य थे, लेकिन उनकी अधिक व्यवस्था न होने के कारण ही वह गुत्थी बनकर उसके कपोलों पर लटक आए थे और वह कपोल उसके ठीकरी की तरह चिकने और कठोर थे। प्रोफेसर भरी सभा में कल्याणी की ओर आँख भरकर देख न सकने के कारण अनेक कल्पनाओं में विहार करने लगा।

उसे अपने वह दिन याद आ गए जब वह एक इन्कलाब का गायक माना जाता था और उसके एक-एक शब्द पर अनेक कल्याणियाँ अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर रहती थीं। लेकिन अब वह जमाना

कहाँ था। विक्रम को लगा कि उसकी जिन्दगी का वह तूफ़ानी दौर न जाने किस रेगिस्तान में ग़ारत हो गया। उसने मन-ही-मन कल्याणी को धन्यवाद दिया कि उसकी एक ही नज़र ने विक्रम के दिल को, जो शराबखाने के बूढ़े बार्टेण्डर की तरह निस्तेज और निस्पन्द हो गया था, फिर से एक बार आन्दोलित कर दिया।

उस दिन विक्रम की कल्याणी से कोई भी बात नहीं हुई। हाँ, अवसर देखकर अगली गोष्ठी में आने का अनुरोध विक्रम ने उससे अवश्य कर दिया था। यों प्रकट रूप से उस अबकी भी गुन्जाइश कहाँ थी, क्योंकि उसकी पत्नी सन्तोष साथ में थी। उसे यह पसन्द नहीं था कि उसका पति इस तरह किसी अन्य महिला से आत्म-निवेदन करे।

अगली गोष्ठी में सुनाने के लिए एक इन्कलाबी गीत विक्रम ने पहले से ही चुन लिया था और यह कल्पना भी कर ली थी कि जिस गीत ने न जाने कितनों के दिलों में विलोड़न पैदा कर दिया था, क्या वह अब इस साधारण-सी लड़की को प्रभावित न कर सकेगा! लेकिन गोष्ठी के ऐन मौके पर विक्रम ने अपना निर्णय बदल दिया, और उसने शृङ्गार रस की एक ऐसी कविता सुनाई, जिसमें नायक ने अपनी प्रेयसी से अपने विद्रोही प्रणय का निवेदन किया था। उस कविता में जमीन और आसमान को एक कर देने की पूरी तैयारी थी—यदि उसकी प्रेमिका को दुनिया ने उससे दूर रखने की चेष्टा की, और सबसे अन्त में समुद्र के उस ओर जाकर एक निष्कण्टक संसार बनाने की मधुर कल्पना भी थी, जिसमें नायक और उसकी प्रेयसी के प्रणय में कोई भी बाधक न होगा। विक्रम के कण्ठ से ऐसी कविता सुनकर लोग अकस्मात् ऐसे चौंक गए जैसे किसी मोटर के भोंपू से वीणा की मधुर गुन्जार सुन रहे हों। स्वयं उसकी पत्नी सन्तोष का मुख लज्जा से लाल हो उठा और वह अपना मुँह छिपाने के लिए स्थान खोजने लगी। विक्रम की

इस कविता पर कोई भी विद्वान् कुछ भी कहने को तैयार नहीं था वरन् वह सार्थक दृष्टियों से उन महिलाओं की आंखों में झांकने का प्रयत्न कर रहे थे, जो स्वभावत: ऐसी गोष्ठियों में निष्प्रयोजन ही आ जाया करती हैं। लेकिन कल्याणी का नम्बर आया तो वह तत्काल खड़ी हो गई और बोली, "सच्चे प्रेम की प्राप्ति के लिए सामाजिक बन्धनों को तोड़ना स्वास्थ्य का लक्षण है अवश्य, परन्तु इससे भी बढ़कर कलाकार का कर्तव्य है कि वह अपने-आपसे ऊपर उठकर एक विराट हेतु का साधक बने। वह एक ऐसे समाज का निर्माण करने के लिए विद्रोह करे जिसमें हर व्यक्ति अपने प्राकृतिक आकर्षणों को परितोष देने की क्षमता रखता होगा और हर एक व्यक्ति को समानता और अनुकूलता के साथ अपने जीवन का विकास करने की सुविधा प्राप्त हो सकेगी। साहित्य का सच्चा क्रान्तिकारी रूप यही है कि वह पुरातन पर नवीन की विजय का साधक बने और मानवीय विकास के पथ पर नई मञ्जिल स्थापित करे। अगर ऐसा होगा तो किसी को भी अपनी टूटी-फूटी नौका में बैठकर किसी महासागर के पार मुक्त जीवन की खोज करने के लिए आत्मघाती प्रयत्न न करना होगा।"

कल्याणी ने जो कुछ कहा था उससे गोष्ठी की धारा ही बदल गई। उस काली मास्टरनी की अनपेक्षित चर्चा से लोगों का ध्यान उसकी ओर इस कद्र खिंच गया था कि सभा में भाग लेने वाली अधिक सुन्दर और सुवेष्टित महिलाओं को अपने वस्त्र फिर से ठीक करने और आसन बदलने की आवश्यकता अनुभव होने लगी।

कल्याणी की इस आलोचना की सबसे कड़ी मार प्रोफेसर विक्रम पर पड़ी थी। वह स्थान पर बैठा बैठा तड़प रहा था। वह सोच रहा था तो फिर प्रेम करना क्या हुआ, अच्छी खासी राजनीति हो गई। "क्या कहने उनके थीसिस के। प्रेम करना हो तो पहले बन्दूक उठाओ, गोया इन्सान की सभी आकांक्षाओं की पूर्ति का एक-मात्र साधन

बन्दूक ही जैसे हो।' वह कल्याणी के दोनों कन्धे झटककर कह देना चाहता था कि क्या सचमुच ही वह अपने दिल की सब कोमल भावनाओं को बन्दूक के हाथ बेच चुकी है?

वह भरी सभा में कल्याणी द्वारा अप्रतिभ कर दिया गया था। और अब उसे कल्याणी के नेत्रों के मुस्कराते स्वप्न की जगह एक बेदर्दी से चोट करने वाली नागिन खेलती नज़र आ रही थी। अब वह उससे उलझना चाहता था और गोष्ठी के विसर्जित होते-होते वह कल्याणी के निकट पहुँच गया था। वह कहने लगा, "मिस कल्याणी, मुझे यकीन है कि आप अपने उस आदर्श समाज की कल्पना करते-करते मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों को न भूल जाती होंगी। आपसे इतनी शीघ्र मिलने की मेरी इच्छा भी ऐसी ही भावना का अनुरोध है, जिसे आप क्षमा करेंगी। मेरा खयाल भी यही है कि यदि इन्सान हाड़-मांस का पैदा होगा तो उसमें रागात्मक वृत्तियों का जन्म होगा ही और वह उस समय तक स्वाभाविक रहेगा जब तक आपका समाज कोई लोहे का बना 'रोबो' न बनाने लगेगा।"

"प्रोफेसर विक्रम साहब, मैं आपकी कृतज्ञ हूँ कि आपने मुझे बातचीत करने योग्य समझा। बात दरअसल इतनी है कि मैं कोई साहित्यिक नहीं हूँ। परन्तु हर सामान्य पाठक की तरह इतना अवश्य अनुभव करती हूँ कि साहित्य वह है जो इन्सान को उसकी जिन्दगी के उचित मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में सहायता देता है। ऐसे साहित्य के सृष्टा ही एक सुखी और समृद्ध समाज को जन्म दे सकते हैं।"

प्रोफेसर विक्रम ने चुटकी ली, "तो ऐसे मूल्यवान साहित्य का उत्पादन करने के लिए किसी खास साँचे की साहित्यिक मशीनों वाली कम्पनी की सोल एजेण्ट आप सरलता से बन सकती हैं।"

कल्याणी के हाथों में बिनाई का सामान था। और वह धीरे-धीरे अपने पथ पर बढ़ रही थी। विक्रम की चुटकी उसके चेहरे

पर स्पष्ट नज़र आ रही थी। वह बोली, "आप अपनी बात पूरी कर लीजिए।"

विक्रम की समझ से उसकी बात पूरी थी, लेकिन उसने और भी कहा–"मैं आपको कह देना चाहता हूँ कि जिन आत्माओं ने जीवन-पर्यन्त परिस्थितियों से जूझकर समाज को रोशनी दिखाई उन्होंने सुखियों का उत्पादन नहीं किया। सुख प्राप्त करना और सुखी होना सदैव ही लोगों के निजी सामर्थ्य पर निर्भर रहा है।"

चलते-चलते वह आम सड़क पर आ गए थे। सामने एक जलपान-गृह था और कल्याणी के निमन्त्रण पर वह दोनों उसी के अन्दर चले गए। कल्याणी ने चाय का आर्डर देते हुए कहा, "मैं अधिक बहस करना नहीं जानती। मैं यह जानती हूँ कि हर इन्सान को ऐसे समाज की कल्पना करनी चाहिए जिसमें इन्सान की वृत्तियाँ संघातक न हों। वह अपने सुख के ऊपर सबके सुख के लिए संघर्ष करेगा। आप और हम भी अपने चारों ओर की मांसलता छोड़ें और साहित्य के वास्तविक क्रन्तिकारी मूल्यों को अपनायें। औरों को वह क्या रोशनी पहुँचायगा, जो अपने चारों ओर देखकर भी आँख मूँद लेता है।" चाय के प्याले सामने आ गए थे और उनसे गर्म-गर्म भाप दोनों के बीच उड़ रही थी। विक्रम ने अपनी दृष्टि को केन्द्रित करते हुए कहा, "मुझे अपना वह जमाना याद है। सचमुच इन्सान की जरूरतें उसे कितना तीखा और चौकन्ना कर देती हैं। मेरे अभावों ने मुझे नये विश्वासों और नये आदर्शों की ओर झुकाया था। उस समय मुझे अपने अन्तर में शक्ति का एक महान् पुञ्ज दिखाई पड़ता था और आज सब फीका-फीका मालूम पड़ता है। अब मैं एक प्रोफेसर हूँ। मेरी पत्नी भी सुन्दर है और अपने साथ ऐशो-आराम के काफी सामान भी लाई है। परन्तु कल्याणी देवी, अब मैं बिलकुल ठंडा पड़ गया हूँ।"

कल्याणी ने मुस्कराकर कहा, "मैं आश्चर्य करती रही कि आप

अपनी पत्नी को छोड़कर इधर किस तरह चले आए। अब तो वह घर पहुँचकर आपकी प्रतीक्षा भी करने लगी होंगी। आपको उनका खयाल रखना चाहिए। उन्होंने आपके हृदय में वास करने वाली कीचड़ को यानी आपके शब्दों में अभावरूपी कीचड़ को निकाल बाहर फेंका है।" कल्याणी ने दूसरे प्याले का आग्रह करते हुए कहा, "आपको शायद अपनी पत्नी के इन गुणों से परिचय नहीं हुआ है।"

संतोष का नाम आते ही विक्रम जैसे चौंक गया। वह अन्दर-ही-अन्दर घबरा गया, क्योंकि वह संतोष को अकेले छोड़कर एक दूसरी महिला के साथ चला आया है। और अभी तक इतनी देर बाहर ही रह गया है। उसने अगले प्याले के लिए क्षमा माँग ली और कहने लगा, "मुझे प्रसन्नता है कि आपने दो बार देखकर उनकी वह खूबी समझ ली जिसे मैं वर्षों तक साथ रहकर भी नहीं समझ पाया। आपने क्या कहा है! 'यानी उन्होंने मेरे दिल से अभाव रूपी कीचड़ को बाहर निकाल फेंका है,' और यही कारण है कि उस हृदय-सरोवर में अब विचारों के कमल नहीं खिल पाते। आपने ठीक कहा कल्याणीदेवी, मैं स्वयं भी यही सोचता था कि विक्रम की जिस आवाज से हवा में लरज पैदा होती थी, वह बच्चों की खेलने की पीं-पीं से भी बदतर हो गई है।" विक्रम ने पहले ही उठकर चाय वाले को पैसे दे दिए और चलने लगा।

घर की ओर चलते हुए भी कल्याणी जैसे उसके साथ थी, और कल्याणी की आँखों का धूमिल स्वप्न अब उसे प्रकाश-पुञ्ज के समान दिखाई दे रहा था। विक्रम ने चलते-चलते अपने अन्तर में दोहराया वह उसका बड़ा कृतज्ञ है कि उसने उसके सोये प्राणों में नई जिन्दगी पैदा कर दी और वह सीटी बजाता हुआ सन्तोष का सामना करने के लिए साहस बटोरने लगा।

स्वागत के लिए उसकी पत्नी द्वार पर ही खड़ी मिली। विक्रम के निकट आते ही वह सख्ती से बोली, "क्यों उसी के पीछे हो लिए न। मुझे तो वह औरत फाहशा लगती थी। बातें बनाना तो आप लोगों से सीख ही लेती है?"

विक्रम रुका नहीं। कोट उतारता हुआ वह सीधा अपने कमरे में चला गया। सन्तोष भी उसके पीछे-पीछे थी। उसने फिर टोका, "तुम्हें मालूम है तुम किस तरह सुध-बुध भूलकर उसके पीछे चले जा रहे थे। अगर तुम्हें किसी की बेइज्जती कराने में मजा आता है तो कम-से-कम अपने खाने-पीने का खयाल करके ही ठीक वक्त पर घर आ जाते, फिर हमारी तरफ़ से सारी रात कहीं रहते।"

विक्रम का सब्र सीमा पार पहुँच गया था। उसने कनखियों से सन्तोष की ओर देखते हुए कहा, "क्यों जी, हमने सुना है हर औरत एक दूसरे को फाहशा लगती है, खास तौर से जिस औरत में किसी का पति कोई दिलचस्पी रखने लगे।"

संतोष को जैसे किसी ने छत पर से ढकेल दिया हो। उसे विश्वास होने लगा था कि सचमुच उसका पति उस चुड़ैल से प्रभावित होकर लौटा है। उसने पहले भी ऐसे अवसरों पर अपने पति से बातें की हैं, लेकिन आज के अन्दाज में कितना अन्तर था। उसने आगे बढ़-कर कहा, "तो साफ़-साफ़ क्यों नहीं कह देते कि मैं फाहशा लगने लगी हूँ, क्योंकि मैंने इस गृहस्थ के निर्माण में सारी काया जो झोंक दी है।"

"क्या बकती जा रही हो तुम!" विक्रम ने ऊँची आवाज़ में कहा, "मैं नहीं समझता किसी से दो बातें कर लेने में कौन पाप है? तुम किसी शरीफ़ आदमी को इतनी गन्दी गालियाँ देने लगीं, जब कि तुम उसे जानती नहीं, पहचानती नहीं। मेहरबानी करके मुझे पिछले

दिनों की बातें याद दिलाकर खोने और पाने का हिसाब लगाने पर मजबूर न करो। मैं सब अच्छी तरह जानता हूँ?"

फिर कोई नहीं बोला। उस सन्ध्या को दोनों ने खाना भी अलग-अलग खाया। लेकिन विक्रम को जैसे उस सबसे सुख मिल रहा था। वह सोचता रहा कि उसके जीवन की दिशा मोड़ने का सारा श्रेय उसकी पत्नी को ही है जिसने उसे कभी घर की सीमा से ऊपर न उठने दिया। कितनी अकर्मण्यता, कितनी क्षुद्रता और कितना अवसाद उसमें भर गया है जैसे वह अपने को इन्सान कहते हुए उस शब्द का अनुचित प्रयोग करता हो। वह ज्यों-ज्यों अपने अतीत काल पर विचार करता त्यों-त्यों वह कल्याणी के प्रति कृतज्ञ और संतोष के प्रति कठोर होता जा रहा था।

लेकिन उससे आगे संतोष ने उसे कभी टोका नहीं। विक्रम का घर लौटना अब प्रायः अनिश्चित हो गया था। कल्याणी के साथ मिल-कर उसने कितने ही सार्वजनिक कार्य आरम्भ कर दिए थे। विक्रम जिन्दगी के नजदीक आ गया था।

कल्याणी के साथ सुरम्य कुञ्जों में बैठकर उसने सुनहली सन्ध्या देखी थी, तो गरीबी और पामाली के रौरवपूर्ण दृश्य भी देखे थे जिन्हें देखकर विक्रम को एक ऐसे विचार ने अभिभूत कर लिया था जो अत्यन्त भयानक था, लेकिन उसमें प्रेम और घृणा-जैसी उत्कटतापूर्ण चिपक नहीं थी। विक्रम के जीवन में एक नई दुनिया का उदय हो चुका था और इस क्रम में पूरा एक वर्ष पलक मारते-मारते गुज़र गया था।

इस बीच संतोष के जीवन में कितना परिवर्तन हो चुका है, इसका विक्रम को पता न था। इसमें संदेह नहीं कि वह अपनी कुल-परम्परा के अनुकूल अपने रूप और दौलत पर गर्व करने वाली थी।

अपने पति को दूसरी स्त्री के प्रति आसक्त देखकर उसका समस्त रूप और यौवन जैसे फीका पड़ गया था। प्रतिशोध की आग ने उसके हृदय को जलाकर राख कर दिया था। वह रातों-रात जागती रहती, रोती रहती, भूखी और प्यासी विलाप करती रहती, लेकिन उसने विक्रम के सामने अपनी पराजय स्वीकार नहीं की।

सचमुच विक्रम का दृष्टिकोण बदल गया था। संतोष के जीवन के तौर-तरीके में स्पष्ट परिवर्तन देखते हुए भी उसके दिल में कुछ चोट नहीं होती थी। उस दिन की तलख़ी के बाद दोनों के साफ़-साफ़ दो रास्ते हो गए थे। लेकिन एक रात नीची कौमों की बस्ती में घूमते-घूमते उसे अकस्मात् संतोष की याद हो आई। वह जल्दी से घर लौट आया। यद्यपि आज जल्दी में भी रात के बारह बज चुके थे।

घर में आने पर वह अपने कमरे में न जाकर सीधा संतोष के कमरे में चला गया और आहिस्ता से उसका नाम लेकर पुकारा।

"मुझे सोने दीजिए, अपने कमरे में जाइए ?" संतोष का कठोर उत्तर था।

"तो सो जाओ, मैं कब मना करता हूँ।" विक्रम से जैसे अपनी पराजय को वाजिब मानकर शिरोधार्य कर लिया था। लेकिन संतोष फिर सहसा फुफकार उठी, "ठीक है कोई सोये या जागे, रोये या हँसे, मरे या जिये, आपको मतलब ! आपको अपनी ऐशो-इशरत से काम। न जाने उस चुड़ैल से कैसे फुरसत मिल गई है।"

"संतोष, अपनी भावनाओं पर काबू करो। जिस दिन तुम अपनी जिन्दगी पर सच्चे हृदय से ग़ौर करोगी उस दिन तुम्हारा मन साफ़ हो जायगा। जिसे तुम आज चुड़ैल कहती हो वह देवी प्रतीत होगी···!

"फिर वही·····पर-स्त्री की प्रशंसा···!" संतोष की भावनाओं में पुनः पागलपन उभरता आ रहा था। संतोष में आगे सुनने की ताब न थी। उसने विक्रम को बीच में टोकते हुए कहा, "तो फिर उस देवी के स्वर्ग

से इस नरक में आने की मुझे क्या जरूरत थी ?" वह फफकने लगी, "इस घर से बाहर सभी देवियाँ हैं। केवल एक मैं ही राक्षसी रह गई हूँ। मेरे भाग्य ही फूट गए। मैं नहीं जानती थी कि मैं ऐसे देवता से अपना नाता जोड़ रही हूँ।"

विक्रम इतनी-सी देर में परेशान हो उठा था। उसके मन की तरलता उड़ती जा रही थी और एक चुनौतीपूर्ण कठोरता फिर से सिर उठाने लगी थी। वह बाहर जाने लगा।

संतोष इस बार सहसा उठकर खड़ी हो गई थी। वह विक्रम के अत्यंत निकट पहुँचकर बोली, "आज इस तरह नहीं जाने दूँगी। फैसला करके ही जाना होगा।"

विक्रम ने दिल के उभरते हुए क्रोध को पीते हुए कहा, "मुझे इस घर में रहने देना है तो शराफत से, इन्सानियत से पेश आओ। जो कहना है ठण्डे दिमाग से कहो, पागलों की तरह खौफ़नाक बनकर तुम मुझे काँटों में नहीं घसीट सकतीं। मैं जानता हूँ मेरे बगैर तुम इस घर की कल्पना नहीं कर सकतीं।"

संतोष के मस्तिष्क का तनाव एक टीस के साथ शिथिल हो गया था और वह पागलों की तरह चीख उठी थी, "मैं तुम्हारी लौंडी हूँ। मेरे बाप ने गलती की जो तुम्हारे हाथ में मेरा हाथ पकड़ा दिया और इतना धन-दौलत देकर तुम्हें मेरी मिट्टी खराब करने लायक बना दिया। ठीक है कोई औरत मर्द के बिना नहीं रह सकती। ठीक है मैं अब इस घर में नहीं रहूँगी।"

विक्रम के मन में इस तमाम प्रदर्शन के प्रति घृणा भरती जा रही थी। और एक हौलनाक तस्वीर उसकी निगाहों में नाचने लगी थी। उसने आगे बढ़कर संतोष को पकड़ लिया, "आखिर तुम जाना कहाँ चाहती हो ?"

"जहाँ तुम जाते रहे हो।" संतोष ने उत्तर दिया।

"अब इस आधी रात में ही ।" विक्रम का कलेजा आत्मसम्मान और अनौचित्य के अंतः-संघर्ष के फलस्वरूप जैसे बाहर निकल आने को तैयार था ।

लेकिन संतोष पर इसका कोई असर नहीं था। वह बढ़ती ही गई, "हाँ इस आधी रात को। तभी तुम समझ सकोगे कि घर से बाहर रातें गुजारने का घर में रहने वाले पर क्या असर होता है। जाने दो मुझे।" संतोष संघर्ष करने लगी ।

"तो ठहरो। मैं जाता हूं। तुम नहीं जा सकती। तुम्हारे माल-दौलत से भरे घर की मुझे जरूरत नहीं है और अब से आगे तुम मुझे कभी न देख सकोगी।"

और उसने संतोष को पूरी ताकत से उठाकर पलंग पर पटक दिया और आप धड़धड़ाता हुआ बाहर निकल गया ।

और इस तरह प्रेम और अपमान के दो उठते हुए तूफान आपस में टकराकर चूर-चूर हो गए ।

विक्रम घर से बाहर आ गया था और वह कटी पतंग की भाँति उड़ा जा रहा था । उसके दिल में तेज धार पैदा हो गई थी और वह अपनी मांस-पेशियों को सख्त करके अज्ञात रूप से अपनी शक्ति का अन्दाजा लगाता जाता था । गलियों के मोड़ एक के बाद एक पीछे छूटते जाते थे और उसे मालूम नहीं था कि वह किधर जाना चाहता है । गलियों के मोड़ों पर पहरा देने वाले कुत्ते उसकी तेज रफ़्तार से घबराकर ऊँघते हुए दूर उछल जाते और आसमान को फाड़ देने वाले स्वरों से विक्रम की बौखलाहट को घबराहट में बदलते रहते लेकिन फिर भी वह सुनसान गलियों में आगे-ही-आगे बढ़ता जा रहा था ।

क्या वह मरना चाहता है !

हरगिज नहीं, क्योंकि वह स्वयं अपनी मांस-पेशियों में इस तरह ताकत अनुभव कर रहा है कि आज वह किसी से भी घूँसेबाजी कर सकता है।

तो क्या वह किसी को मार देना चाहता है। क्या संतोष को, जिसके प्रति उसके हृदय में अभी कुछ क्षण पूर्व प्रेम का अजस्र स्रोत बहा था और जिसकी क्षुद्रता ने उसे रात्रि की इस भयानक वेला में घर से निकल भागने पर मजबूर कर दिया, अब वह सचमुच संतोष को लेकर फिर से घृणित कल्पनाएँ करने लगा था और जोर-जोर से कह रहा था, "यह संतोष अपने सारे सौंदर्य के साथ भी कल्याणी के पैर की धूल तक नहीं, उसे लाज नहीं आती बिना सोचे-समझे किसी को ओछे शब्दों से याद करने में। वह कितनी तुच्छ, कमीनी और द्रोही है।" और कल्याणी!

उसे याद आया। उसके स्पर्श में कितना चुम्बक है। किस तरह उसने उसका हाथ अपने हाथ में पकड़कर उसे साथ ले लिया था और अपनी सहेलियों से परिचय कराया था। उनमें नरगिस थी जिसने अपनी इकहरी पीठ पर पड़ी वेणी को सँभालते हुए पूछा था, "आज-कल क्या लिख रहे हैं प्रोफेसर साहब!" और उत्तर भी कल्याणी ने ही दिया था। "आजकल तो लिखना-पढ़ना छूट रहा है। काम-धन्धे से फुरसत नहीं है।"

उनमें एक वागीश थीं—जो यह सुनकर तपाक से बोली थीं, "वाह मेरी बहन भी कविता करती हैं और कहा करती हैं कि लिखने वालों का अक्सर लिखना नहीं काम-धन्धा छूट जाया करता है।"

मिस वागीश की इस बात को सुनकर सभी हँस पड़े थे। इसका उत्तर भी कल्याणी ही ने दिया था, "तुम्हारी बहन के पति उन्हें प्यार नहीं करते होंगे।"

"वाह यह भी एक ही रही," मिस वागीश ने कहा था, "जिसकी शादी ही न हुई हो। तुम्हें मालूम नहीं कल्याणी दीदी, वह तो डॉक्टर है ?"

मिस वागीश की सरल सुकोमल बातें सुनकर कितना सरूर आता था। कल्याणी ने कहा था, "प्रोफेसर विक्रम के जीवन में रोमान की कमी हो गई है। अगर कोई नया रोमान जिंदगी में आये तो कलम चल निकले ?" और उस पर मिस पन्त ने कितनी चुभती हुई बात कही थी, "गोया कलम क्या हुई सूरजमुखी का फूल हुई जो प्रेयसी का मुखड़ा देखे बिना खिलती ही नहीं।" और मिस नरगिस ने कहा था, "मिस पन्त जल्दी में एक ही सेक्स को उपमेय और उपमान बना गई हैं। अब प्रोफेसर साहब पर मेहरबानी करनी ही ठीक होगी।"

कल्याणी की सहेलियों के उस उपहास से उसे लगभग ज्वर-सा हो आया था, लेकिन कल्याणी के मुँह से झड़ने वाले फूलों में कितनी मोहक महक थी। उसमें हसद, द्वेष और क्षुद्रता की छाया तक न थी। आखिर वह भी एक औरत है !

और वह कैसी औरत है जिसने उसके प्रणय-निवेदन को सुना और सहन किया, जिसने उसके साथ कुञ्जों में अनेक शामें गुजारीं। उसने कहा था, "क्या सचमुच विक्रम, तुम्हें मुझमें कुछ सौंदर्य दीखता है और लिखने की प्रेरणा मिलती है।" लेकिन विक्रम ने लिखने की प्रेरणा ली कहाँ थी। कल्याणी की तस्वीर ही अपने मनःपटल पर उतार बैठा था।

"मुझे लज्जित न करो कल्याणी ! क्या बिना कवि या लेखक बने इन्सान जिन्दा नहीं रह सकता। तुमने मेरे दिल में इंसानियत की एक ऐसी बुलन्द तस्वीर उतार दी है कि उसके सामने लिखने का क्या सुख ! मैं एक सजीव रोमान से भर उठा हूँ !"

और कल्याणी ने कहा था, "मुझे तुम्हारे रोमान पर विश्वास नहीं होता। मुझे तुम इतने दिनों के साथ में भी जिन्दगी की उसी सतह पर खड़े नजर आये जहाँ औरतों की खूबसूरती उषा की लालिमा और गुच्चों की ताजगी से लेखकों में एक वासनामय रोमान का उदय होता है, हालाँकि तुम देख चुके हो गरीबों और मेहनतकश की हथेलियाँ भी। जिनकी हथेलियों और एड़ियों में कोई फर्क नहीं होता और जिन्हें देखकर इन्सानी खूबसूरती पर से आदमी का अकीदा ही उठ जाय। जिनकी सारी जिन्दगी तबाही और बरबादी से लड़ते बीतती है और तुम कहते हो कि तुम जिन्दगी-भर न लिख सको तो क्या ?"

विक्रम की आँखों में स्नेह से आँसू छलक आए थे। उसने कल्याणी का हाथ पकड़कर उठाते हुए कहा था, "चलो कल्याणी, वक्त बरबाद करने से क्या फायदा। अभी जिन्दगी में कितना कुछ करना है !"

लेकिन कल्याणी ने उसे बल पूर्वक खींचकर अपने अत्यंत निकट बैठा लिया था और कहा था, "यह मत समझो कि मैं तुम्हारे दिल को दुखाना चाहती हूँ। तुम्हारा आदर और प्रेम पाकर मैं क्या कोई भी नारी अपने को धन्य समझेगी; परंतु विक्रम वह वक्त क्या कभी नहीं आयगा जब स्त्री और पुरुष पारस्परिक स्पर्श के सुख से भी अधिक ऊंचे आदर्शों के लिए साथ-साथ मरने-मिटने में सुख पाने की कल्पना करेंगे।" विक्रम फिर भी बोला नहीं था। लौटते समय वह उसे एक ऐसे रास्ते से निकालकर लाई थी, जहाँ गरीब और बेकस लोग रहते थे, लेकिन वह सब अपने दिन के काम-धन्धे से फारिग होकर कैसी तन्मयता से अपने घरों में चिपके बैठे थे जैसे एक ही वृक्ष की अनेक शाखाएँ हों और उस दिन कल्याणी ने उससे शीघ्र ही घर लौट जाने को कहा था और नेत्रों में एक प्रकाश के साथ उसके लिए शुभ रात्रि की कामना की थी।

विक्रम विचारों के इसी वेगवान प्रवाह में बहा जा रहा था। नगर की उस साँय-साँय से भरी भयानक भूल-भुलैयाँ में उसे गला घोंट देने वाली वीरानी मालूम पड़ती थी, जो जैसे जाग रही थी। विक्रम को लगा कि या तो उसे कोई सहारा पाकर जी-भर रो लेना चाहिए, अन्यथा वह मूर्छित होकर गिर जायगा।

वह लड़खड़ाकर आगे चलने लगा। वह गिरना नहीं चाहता था और उसका दिल अन्दर से खोखला होता जा रहा था। वह पराजित-सा सोचने लगा था कि वह कुछ नहीं चाहता बस केवल एक चीज कि संतोष की काया में जो क्षुद्र आत्मा है वह ऊँची उठ जाय। वह सच-मुच इतनी ऊँची उठ जाय कि उसका सौंदर्य इतिहास-प्रसिद्ध नारियों की कोटि में स्थापित हो जाय।

उसकी आँखों के सामने सन्तोष का मुख-मण्डल घूम गया। उसे लगा कि जैसे वह मुख-मण्डल त्याग की दीप्ति से आलोकित है। उसने सहसा अपने नेत्र मूँद लिए और गहरा साँस खींच लिया।

अब सन्तोष जैसे उसके साथ-साथ चल रही थी। उसके नेत्रों से अमृत बरस रहा था। उसकी चेष्टाओं में एक नये जीवन की झलक थी। वह विक्रम की बाँह का सहारा लेकर चल रही थी। उस मधुर विचार की शीतलता से उसकी धमनियों में बहने वाला घृणा का जहर जैसे धीमा पड़ गया था और उसे दुनिया साफ़-साफ़ नज़र आने लगी थी।

उसने देखा कि सामने शहर का बाग है। उसके फाटक बंद हो चुके थे। केवल द्वार पर बिजली की तेज बत्तियों के प्रकाश में हरी झाड़ियाँ नवेली वधुओं-जैसी लग रही थीं, और क्यारियों में खिले विलायती फूल बिल्लियों की चमकीली आँखों-जैसे लगते थे। उसने बाग के फाटक अपने मजबूत पंजों से पकड़ लिए और एक क्षण

अन्दर झाँकता रहा। उसने अकस्मात् सींखचों को जोर से हिलाया और हृदय की व्यथा से अभिभूत होकर फाटक के सहारे नीचे खिसक गया।

सामने आकाश में हल्की-हल्की रोशनी उग रही थी और लगता था कि जल्दी ही चन्द्रमा उदय हो जायगा। विक्रम ने सोचा, क्या सच-मुच सन्तोष उससे घृणा करती है। आखिर उसने ऐसा क्यों किया। और मैं प्रोफेसर विक्रम, जिसने इन्कलाब के गीत गाये, जिसकी आत्मा स्फूर्त है और जो युग बदलने के लिए कृत-संकल्प हैं, वह अपनी पत्नी के सम्मुख खड़ा न हो सका ?

पिछले क्षणों के भयानक मानसिक तूफ़ान के बाद उस क्षण उसने पहली बार अनुभव किया कि वह अपने कर्तव्य से गिरा है और उसने अपनी पत्नी के हृदय में पलने वाली आत्यन्तिक घृणा को जहर बनने के लिए खुला छोड़ दिया है—जो घृणा उसकी एक मनुहार से, स्पर्श-आलिंगन से प्रेम की पवित्रता बनकर उसे मूर्छित कर देती, बेसुध कर देती।

वह सहसा घबरा उठा। एक अज्ञात भय उसकी पीठ की हड्डी से चढ़ता हुआ दिल की गति को तेज करने लगा।

उसे लगा कि सन्तोष ने आत्म-हत्या कर ली है। वह उसे घृणा की चरम सीमा तक पहुँचाकर उसके अविवेक को खुला जो छोड़ आया है।

विक्रम उठ खड़ा हुआ और चलने लगा। उसके सारे शरीर में अवसाद था। एक अज्ञात भय था। लेकिन चाँद क्षितिज से दो बाँस ऊपर उठ गया था, और विक्रम देख सकता था कि वह अपने घर की ओर जा रहा है।

घर पहुँचकर उसने देखा कि घर पर एक छोटी-सी भीड़ लगी हुई है, जो उसके प्रकाश में आते ही अनेक आकृतियाँ-विकृतियाँ लेकर घटनास्थल से हट गई।

संतोष अर्द्धमूर्छित अवस्था में कल्याणी की गोद में लेटी थी। विक्रम के निकट आते ही वह बोली, "ये देखो इनकी गरदन के निशाना, यदि तुम्हारा नौकर दौड़ता हुआ मेरे घर न पहुँचता तो शायद तुम्हारी जिन्दगी की यह सबसे बड़ी भूल सुधारने का अवसर, मुझे न मिलता।"

विक्रम की आँखों में पानी छलक आया था। कल्याणी ने कहा, "मैं जानती थी कि तुम आओगे जरूर।" उसने सन्तोष को जगाने की चेष्ट करते हुए कहा, "लो अब अपनी अमानत संभालो। मैं चली।"

उसके मुँह पर निश्छल आह्लाद था। लेकिन विक्रम हिला-डुला नहीं, केवल एकटक निहारता रहा, सोचता रहा।

२

पड़ोस

मैं जिस मोहल्ले का जिक्र कर रहा हूँ उसका नाम आपको नहीं बताऊँगा। लेकिन हमारा यह मोहल्ला यों समझिये या तो शैतानों का अड्डा है या फिर संतों का निवास-स्थान है। यहाँ सभी नौकरी-पेशा और मध्यम दर्जे के कारोबारी लोग रहते हैं, लेकिन एक दूसरे से इतने दूर-दूर कि न जाने फ्रांसीसी हैं अथवा अफ्रीकी। किसी को अपने पडोसी के बारे में कुछ नहीं मालूम और अगर मालूम भी हो तो दो मिनट दूसरे के लिए रुककर कौन अपना वक्त खराब करे। बाबू जी हों या लाला जी अथवा पंडित जी रास्ते में पड़ोसी को देख लेंगे तो ऐसे अकड़ जायँगे जैसे या तो किसी बड़े टेलर-मास्टर की दूकान के नमूने हैं अथवा सीधे बरफखाने से चले आ रहे हैं। मैं यों नहीं कहता कि ऐसा आचरण वह किसी बुरी भावना से करते हैं-यानी वह पड़ोसी से हिकारत करते हैं, परन्तु यह तो दिखाना लाजमी है, एक प्रतिष्ठित आदमी के लिए कि वह किसी साले के बाप का दिया नहीं खाता। इसे आप गाली भी न समझ बैठें, क्योंकि अगर कोई चीज संस्कृति के नाम पर हमारे पड़ोस मे है तो यही कि बाप का माल उड़ाने को यद्यपि ये अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं किन्तु साले के बाप का माल उड़ाने में अपनी थोड़ी तौहीन समझते हैं।

वैसे तो यह मोहल्ला क्या सारा नगर ही संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र माना जाता है परन्तु मैं आपको उसका नाम नहीं बताऊँगा, शहर का भी नहीं; क्योंकि मैं जानता हूँ कि वैसा करने से आप मेरी कहानी को छोड़कर अपनी दादी अथवा नानी द्वारा सुनाई गई किसी

प्रचलित कहानी के फेर में पड़ जायँगे और यह भी सर्वसम्मत बात है कि इस बाबा-आदमी देश में कौन ऐसा नगर है जिसका एक लिखित इतिहास और दूसरा दादी और नानी की कहानियों की परम्परा से पुश्त-दर-पुश्त चलने वाला इतिहास नहीं है।

मुनासिब यह है कि मोहल्ले की कुछ हस्तियों से आपका परिचय करा दूँ।

वह जो दूर नुक्कड़ वाला मकान है— जिस पर पुरानी मुग़लिया नक्काशी की जोड़ियाँ चढ़ी हैं, उसमें बाबू ओंकारनाथ रहते हैं, जो स्थानीय सेक्रेटेरियट में हेड क्लर्क हैं, आँखों पर चश्मा और शरीर पर बन्द गले का कोट और चुस्त पाजामा पहनते हैं। कुछ दिन हुए सिनेमा का तीसरा शो देखकर लौटते समय उन्हें मोती कुत्ते ने काट लिया था। इनकी अनपढ़ी लेकिन हेडक्लर्की बीवी मोहल्ले की पहली औरत थीं, जो मोहल्ले की परम्परा को तोड़कर अनेक ड्योढ़ियाँ लाँघकर पड़ोसियों से यह कहती गई थीं कि उस मोहल्ले में अघटित घटित होने लगा है, क्योंकि मोहल्ले के कुत्तों द्वारा मोहल्ले वालों को काटा जाना कभी नहीं सुना गया। लेकिन उनकी इस चेतावनी के उपरान्त भी बाबू ओंकारनाथ के घर पर समवेदना प्रकट करने केवल इतने लोग आये थे कि सब मिलाकर स्वयं उन्हीं के बच्चों की संख्या उनसे चौगुनी बैठती थी।

बाबू ओंकारनाथ तो पड़ोसियों के इस दुर्व्यवहार से इतने खिन्न थे कि रात-दिन कहनी-अनकहनी बकते रहते थे। और हालाँकि इस मोहल्ले का मोती कुत्ता पूरा-पूरा वेजिटेरियन (शाकाहारी) था, लेकिन बाबू जी की बक-झक ने उनके आसार सन्दिग्ध कर दिए थे और उनकी पतिव्रता पत्नी को अपने गहने बेचकर उन्हें कई कुत्ता-विशेषज्ञ डॉक्टरों को दिखाने पर मजबूर होना पड़ा था।

इस दुर्घटना में भी कुसूर कुत्ते का नहीं था, जितना खुद बाबू ओंकारनाथ का था। जाहिर है कि रात के ठीक बारह बजे कोई अजनबी, जिसे जिन्दगी में एक बार भी न देखा हो, मोहल्ले पर आक्रमण करे और कुत्ता अपनी कारगुजारी में खता खा जाय।

मोहल्ले में इस बात की चर्चा और चख दोनों चलीं और देर-सवेर कभी-कभी कुछ बाबू गप-शप लगाते दिखाई देने लगे। शायद यह दुर्घटना का ही असर था कि मोहल्ले के बीचों-बीच बना सबसे ऊँची कोठी के अकेले मालिक लाला रघुवरदयालु ने अपनी गली के सभी पड़ोसियों को अपनी लड़की की शादी में निमंत्रित किया था। लेकिन इस शादी में एक और दुर्घटना हो गई। जिस समय मोहल्ले के लोग बरात वालों को ज्योनार करा रहे थे, तभी एक पड़ोसी, जो अपनी पत्नी से प्रेरित होकर लाला रघुवरदयालु के महान् कन्या-दान यज्ञ में बरातियों पर केवड़ा छिड़क-छिड़ककर पुण्य कमा रहे थे, संयोग की बात कि लाला रघुवरदयालु उनकी तन्मयता को देखकर प्रसन्नता से उनकी ओर मुस्काने लगे तो पड़ोसी आगे बढ़कर बोले, "किसी प्रकार की खिदमत में कोई कमी हो तो ध्यान न दीजियेगा महानुभाव ! हमारे सौभाग्य कि आप-जैसे महापुरुषों ने हमारी कन्या को ग्रहण करके उदारता दिखाई है" तो लाला रघुवरदयालु की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं और उन्होंने पड़ोसी को गरदन पर हाथ फेंकते हुए कहा, "बदतमीजों के सरताज, मैं ही तुम्हारा बाप रघुवर-दयालु हूँ। भगवान् बचाये ऐसे कमीनों के पड़ोस से !"

और हालाँकि पड़ोसी की यह गलती उसके अतिशय सौजन्य और लाला जी से कभी जानकारी न होने का ही परिणाम थी, लेकिन लाला रघुवरदयालु ने अपनी बेटी का विवाह करते-करते सारे मोहल्ले-पड़ोस की बहू-बेटियों से न जाने कितने रिश्ते कायम कर लिए थे।

ऐसी ही एक दुर्घटना एक बार इन्जीनियर साहब की बड़ी लड़की पुष्पलता की शादी में हो गई थी। इन्जीनियर साहब अपनी रिटायर्ड ज़िन्दगी बिता रहे थे और मोहल्ले के पुराने निवासी होने के कारण उन्होंने गली के अधिकांश पड़ोसियों की सपरिवार दावत कर दी थी। लेकिन जिस समय उन्हें बताया गया कि इन्जीनियर साहब के भंडार में कचौड़ी, मिठाई की तश्तरियाँ और दूसरा सामान समाप्त हो गया है तो उन्होंने अपने सिर में दोहत्तड़ मारते हुए कहा, "क्या बकते हो महापुरुष, मैंने इतनी जिन्स भण्डार में भिजवाई है कि अगर जमाई राजा शुक्र और शनि को भी बरात में लेकर चढ़ते तो उनका भी सामान खत्म करते-करते पेट फट जाता।"

जाहिर है कि औघड़राज भगवान् शंकर के पेटू साथी शुक्र-शनि में सारे संसार-भर की रसद को खा जाने की क्षमता बताई जाती है और इन्जीनियर साहब ने अगर उन्हें चुनौती देने का साहस किया था तो कम-से-कम इतना विश्वास करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि उन्होंने काफी भोजन का प्रबन्ध किया होगा। लेकिन इन्जीनियर साहब की इज्जत दो कौड़ी की हो चुकी थी, क्योंकि पड़ोसियों ने कचौड़ियों की टोकरियाँ और मिठाई के थाल-के-थाल छतों-ही-छतों तीर कर दिए थे और बड़े-बड़े दुर्गम रास्तों को पार करके वह जिन्स उन घरों में पहुँचा दी गई थी, जहाँ जिन्दगी एक हौलनाक अंधेरे में दबी होती है और जिसकी ऊँचाई गमलों में पैदा होने वाली हरियाली की तरह अढाई फुट से कभी ज्यादा नहीं पहुँचती, और वह अपने संगीत को नहीं सुनती तथा खूँटी पर टँगे पुराने सितार की तरह उसके तारों की तांत बिना बजे ही सूख जाती है। ऐसे घरों में, जहाँ जिन्दगी की कोपलें सिर्फ दो टहनियों को काटकर जोड़ देने-मात्र से निकल आती हों और उनके सूख जाने पर वैसी ही दूसरी टहनियों के

संयोग से नई जिन्दगी पैदा करके काम चलाया जाता हो, वहाँ से इन्जीनियर साहब की कचौड़ियाँ किस प्रकार लौट सकती थीं ?

लेकिन ऐसी दुर्घटनाएँ रोज-रोज नहीं घटतीं। मोहल्ले का एक सामाजिक जीवन भी है और इन नौकरीपेशा और कारोबारी सरपरस्तों के अलावा यहाँ कुछ छोकरे और छोकरियाँ भी हैं, जो स्कूल और कालेजों में पढ़ते हैं। उनमें मस्ती है और शोखी भी है। मोहल्ले की लड़कियाँ जब कालिज को जाती हैं या वहाँ से लौटती हैं तो कई लोग खिड़कियों में खड़े होकर कंघी करने लगते हैं। कोई अभी-अभी दिमाग में घूमती हुई ताजा फिल्म का गीत गुनगुनाने लगते हैं। शाम को जब घरों में चहल-पहल होती है तो रेडियो के गाने अपनी झीनी-झीनी तान सुनाते सुन पड़ते हैं या कोई भले आदमी अपने मन-पसन्द पड़ोसी को खिड़की में खड़े देखकर अपने ग्रामोफोन पर कोई चुना, हुआ इश्किया रिकार्ड चढ़ा देते हैं और अपने दर्दे दिल और आशिकाना मिजाज का सबूत देते हैं और वह खिड़की एक झटके के साथ बन्द नहीं हो गई होती तो यह मामला पक गया समझ लिया जाता है और वह दोनों पड़ोसी फिर किसी दिन पार्क में चले जाते हैं। यहाँ परस्पर परिचय होने के बस इसी तरह के एक-दो तरीके हैं। परिचय होने पर क्या होता है उसका पता नहीं पर जो-कुछ होता है वह मोहल्ले में नहीं होता। कभी-कभी कुछ अजनबी लोग भी मोहल्ले में चक्कर काटते नज़र आते हैं। उनका पता नहीं कि वह शहर के दूसरे मोहल्ले के लोग होते हैं या पड़ोसियों के दूर-दराज से आए सम्बन्धी लोग, लेकिन मोहल्ले में सामाजिक जीवन के नाम पर इससे ज्यादा कुछ नहीं होता। लेकिन ऐसी दुर्घटनाएँ जिनसे मोहल्ले के सामाजिक जीवन में क्रांति होने के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं, उनकी याद लोगों के दिमाग में से ठीक उसी तरह भूल जाती हैं जैसे डाकगाड़ी की तेजी से राह

के उड़-उड़कर टकराने वाले कंकड़ दो-एक कदम चलकर पीछे छूट जाते हैं।

इञ्जीनियर साहब के यहाँ शादी में होने वाली दुर्घटना को सुन-कर बाबू ओंकारनाथ ने बड़ी भारी आवाज में कहा था कि उस मोहल्ले पर कहर टूटने वाला है।

एक दिन जब अधिकांश बाबू लोग अपने काम पर जा चुके थे, अकस्मात् पुलिस की टुकड़ी को मोहल्ले में आता देखकर लोगों को विश्वास हो गया कि जरूर बाबू ओंकारनाथ को मोती कुत्ते ने काटकर पैग़म्बर बना दिया है। पुलिस की टुकड़ी ने दोमंजिले पर चढ़ने वाले एक जीने के फाटक तोड़ डाले। थोड़ी ही देर में दरोगा बिकरम खाँ एक फोटो लेकर सड़क पर आ गए। उनके विशाल चेहरे पर क्रोध से ललाई उभर आई थी और ६ फुट ३ इञ्च के ऊँचे उनके कद पर तीखी मूँछें ऐसी लगती थीं, जैसे किसी प्रस्तर-मूर्ति पर किसी ने कमान उल्टी करके टाँग दी हो। यह दरोगा बिकरमखाँ उन सरनाम अफसरों में से था, जिसके मुँह की ओर ताकने की ताब बड़ी मुश्किल से होती थी। यही वजह थी कि उसकी एक आँख होने का पता केवल कुछ ही लोगों को था, लेकिन एक आँख वालों के गुणों से पूरी तरह आभूषित होने के कारण वह दरोगा शहर के बड़े आदमियों की तरह मशहूर था। दरोगा जी फोटो हाथ में ले रहे थे। उसे पास से गुजरने वाले हर आदमी को दिखलाते थे और उसके सरपरस्तों का पता पूछते थे लेकिन पड़ोसी मुँह बिचकाकर 'हमें नहीं मालूम' कहते हुए आगे निकल जाते थे।

आखिर इस फोटो में था कौन। यह उसी औरत का फोटो मालूम पड़ता था जो ऊपर वाले मकान में जली हुई पड़ी थी और जिसका पता मकान के किवाड़ तोड़कर चलाया गया था। लेकिन

फोटो में उसकी जिन्दगी का फूल पूरी तरह से खिला हुआ मुस्करा रहा था। वह कुर्सी का सहारा लेकर बड़े अन्दाज से कहीं ताक रही थी और उसकी सुती हुई देह ऐसी तन गई थी जैसे वह कोई 'बैले-डान्सर' हो, जो किसी आकाश के देवता के साथ नाचने के लिए हवा में उड़ना चाहती थी। उसके कानों में झूमर लहरा रहे थे और उसके अंग-अंग में ऐसी गठन और उभार पैदा हो रहा था, जैसे किसी कामुक मूर्तिकार ने कोई मूर्ति अपनी वासना को तृप्त करने के लिए बना दी हो। वह नारीत्व के समस्त लक्षणों और आशा-अभिलाषाओं से युक्त उस आम की टहनी के समान थी, जो अपने ही वजन से नीचे झुक आई हो। उसकी माँग का सिन्दूर यद्यपि कैमरे की आँखों में पहुँचकर काला हो गया था लेकिन जिनकी आँखें थीं वह उसकी सुर्खी को अब भी देख सकते थे।

दरोगा बिक्रमखाँ बार-बार किसी हठयोगी की तरह उस फोटो को देख लेते थे और आगे आने वाले पड़ोसी का इन्तजार करने लगते थे। अपने दिल के भावों पर उनके लिए काबू पाना मुश्किल हो रहा था। उन्होंने सिपाही भगवानसिंह को अपनी ओर मुखातिब करते हुए कहा "यह मोहल्ला साला हिजड़ों से भरा मालूम पड़ता है। लो देखो, इस खातून को कोई नहीं जानता, जिसकी हस्ती, कसम अल्ला की, एक नजर में दुनिया को पलट दे। इस बदनसीब का शौहर या तो कोई बड़ा आर्टिस्ट होगा या बड़ा जालिम होगा क्यों ठाकुर ?"

और ठाकुर ने दरोगा जी की बात को पूरा करते हुए कहा, "देखिए न हुजूर इन्सान अपनी जिन्दगी देता है तो उससे मायूस होकर! सरकार इसका शौहर या तो कोई ऐसा-वैसा होगा या पक्का जालिम होगा—खूनी, जिसने इस हसरत की तस्वीर का चौखटा हमेशा के लिए गंदा कर दिया—गुनाहगार ने, हुजूर ?"

"ठीक कहा ठाकुर तुमने," दरोगा जी ने अपने वक्तव्य की गलती महसूस करते हुए कहा, "इसका शौहर कोई आर्टिस्ट तो कभी नहीं हो सकता, क्योंकि आर्टिस्ट लोग तो हुस्न के गुलाम होते हैं और हसीनों के भी गुलाम होते हैं। लेकिन बड़ा ताज्जुब है ठाकुर, वह कसाई का बच्चा—इसका शौहर न जाने कहाँ काम करता है। क्या कुछ और पता चला ?"

लेकिन ठाकुर ने जवाब नहीं दिया। वह फिर वहीं चला गया जहाँ से आया था। दरोगा जी फिर बेचैनी में अपने भारी-भारी बूटों से सड़क की छाती को कुचलने लगे। बिकरमखाँ नुक्कड़ पर खड़े हो गए और इस तरह जैसे उस एक्शन के लिए खड़े हो गए हों जिसमें उन्हें अपनी आँख से हाथ धोना पड़ा था।

उन्होंने अनेक आने-जाने वालों से पूछने की कोशिश की, लेकिन उनके माँ-बाप और उस्ताद ने जैसे "हम नहीं जानते" के अलावा कोई सबक सिखाया ही नहीं था।

धूप चढ़ आई थी और दीवारों ने अपना साया समेटना शुरू कर दिया था। कहीं-कहीं मोहल्ले के कुत्तों ने मकानों के सामने साये में पेट की धौंकनी बजानी शुरू कर दी थी और दरोगा बिकरमखाँ अभी तक लाश के सरपरस्तों का कोई अता-पता नहीं लगा पाए थे। उन्हें गुस्सा चढ़ आया था।

ठाकुर भगवानसिंह कहीं से एक कुर्सी उठा लाया था और दरोगा जी के पीछे डाल रहा था। लेकिन बिकरमखाँ ने कुर्सी में लात मारते हुए कहा, "दफा करो इन चोचलों को ठाकुर, यह मोहल्ला है या कस्माबखाना। इतने बे-दर्द जानवर कि मोहल्ले में लाश पड़ी है और चारों ओर खिड़कियाँ बन्द ..."

इतने में एक नागरिक उधर से आ निकला। दरोगा ने आगे लपककर उसका गला पकड़ लिया—आखिर शराफत की भी हद होती है—और फोटो दिखाकर पूछा, "इस खातून का शौहर कहाँ काम करता है।"

नागरिक सिटपिटा गया। और बोला, "हमें नहीं मालूम !"

"लेकिन जनाब आला यह मोहल्ला है या रण्डीखाना कि यहाँ साला कोई एक दूसरे को जानता तक नहीं !" दरोगा जी ने एक और झटका दिया।

"कसम खिला लीजिये हुजूर, जो जिन्दगी-भर किसी की ड्योढ़ी लाँघने का खयाल भी किया हो। हम तो नकाबगंज के रहने वाले हैं ?" नागरिक फिर मिमियाया।

"तो जनाब क्या सेंध लगाने आये थे यहाँ रकाबगंज में।" पुलिस वाले ने जाँच पूरी की। लेकिन बेबसी थी। दरोगा साहब को अपने पंजे की पकड़ ढीली करनी पड़ी।

उन्होंने सिपाही की ओर मुड़ते हुए कहा, "ठाकुर ? यहाँ साला सोशलिस्ट-कम्युनिस्ट भी कोई नहीं रहता ?"

ठाकुर ने संजीदगी से कहा, "अजी हुजूर की बातें, कम्युनिस्ट ! यहाँ कोई संघी भी नहीं है। ले-देकर एक खद्दर जी हैं—सो बेचारे परमिट-वरमिट के चक्कर से फुरसत नहीं पाते।"

ठाकुर की मासूमियत को देखकर दरोगाजी के चेहरे पर भी मुलायमी आ गई और उन्होंने फिर एक बार फोटो को अपनी निगाह के सामने कर लिया।

बगल से कुछ पानी के गिरने की आवाज आई। दो मंजिले पर से पानी गिर रहा था, लेकिन दरोगाजी ने देखा कि मोहल्ले का एक कुत्ता टांग उठाकर उनकी मोटर साइकिल को पवित्र कर रहा है। ठाकुर का ध्यान उस गुस्ताख कुत्ते की ओर आकर्षित करते हुए दरोगा ने कहा, "देखो ठाकुर, साले को गोली मार दूँगा।"

लेकिन ठाकुर ने पास ही पड़ा एक ढीम उठाकर कुत्ते को मार दिया। कुत्ता 'चाऊँ-चाऊँ' करके भाग गया और दरोगा जी की एक गोली बच गई।

इतने में दीवान जी गली में से कुछ बच्चों और एक कांग्रेसी महोदय को साथ लेकर आ पहुँचे और बोले, "हुजूर सिर्फ इतना पता चला है कि मरहूम का शौहर किसी बैंक में काम करता है और इसके माँ-बाप यहीं शहर के रहने वाले हैं।"

"उसका नाम..." दरोगा जी ने पूछा, "अरे साहब मकान-मालिक का खाता देख लेते। उस मरदूद का नाम लिखा होगा। देखो एक इन्सान की मिट्टी खराब हो रही है और कोई कुछ नहीं बताता। दिल में आता है सबको पकड़कर हवालात में घुसेड़ दूँ।"

दीवान जी ने कहा,"मालूम किया हुजूर! नीचे वाला मकान पंडित हरगोविन्दलाल का है और किरायेदार लाला बांकेबिहारीलाल। पंडित जो कहने लगे कि उन्हीं को नीचे-ऊपर का मकान दिया है। शायद उन्हीं ने किसी दूसरे को 'सब-लेट कर' दिया है।"

"और वह नीचे वाला नीच मकान बन्द करके भाग खड़ा हुआ ताकि गवाही में जाने की ज़हमत न उठानी पड़े। भला हो उस मेहतरानी का जिसने थाने में खबर करने की मेहरबानी की। यह मामला खुदकुशी

का मालूम देता है दीवान जी ! चलिये लाश को गाड़ी में रख लीजिए'' और इतना कहते हुए दरोगाजी अपनी मोटर बाइक की ओर बढ़ गए। लाश मोटर पर लादी जा रही थी, जिन्होंने देखा था उनका कहना था कि जलने वाले ने बड़ी बे-दर्दी के साथ खुदकुशी की है। सारा शरीर जलकर एक व्रण के समान घिनौना हो गया था और लाश इतनी डरावनी बन गई थी कि खुद बिकरमखाँ का हौसला उसे देखकर पस्त हो गया था और उस फोटो को देखने के बाद तो गोली खाने की शर्त पर भी उस लाश को दोबारा देखने के लिए वह तैयार नहीं थे।

मोहल्ले से पुलिस का दस्ता विदा हुआ तो जैसे पड़ोसी अपने घरों से बेतहाशा भाग खड़े हुए थे। ताकि गली में इकट्ठे होकर उस हृदय-विदारक दुर्घटना के रहस्य को जान सकें। लोगों के झुण्ड बन गए थे, औरतें एक ओर हटती जा रही थीं और फुसफुसाहट बढ़ती जा रही थी।

औरतों के एक समूह में एक बुढ़िया कह रही थी, "अरी आज-कल की बहू-बेटियाँ काम से जी चुराती हैं। किसी ने टोका कि बस या तो किसी के प्राण ले लेंगी या अपने दे देंगी।"

एक दूसरी, जो अधेड़ थी, कह रही थी, "उसका मर्द जरूर या तो कोई जुआरी होगा या शराब पीने वाला लफंगा होगा। देखा कैसे पान-से पतले होंठ थे ! कैसी कजरारी आँखें थीं। भला उसे जान देने की जरूरत क्या थी। मर्द पर अगर शैतान चढ़ जाय तो क्या औरत भी मग़ज खराब कर ले।" और कोई एक बोल रही थी, "अरे ये मर्दों की कौम पत्थर-दिल होती है। औरत को तो ऐसा समझते हैं जैसे चाट का पत्ता। चाटा और फेंक दिया।" गर्ज यह कि जितने मुँह थे, उतनी ही बातें थीं।

दूसरी ओर पुरुषों का समुदाय एकत्र था और बहस पूरी गर्मी पर थी। एक सज्जन कह रहे थे, "अरे भई यह सब औरतों को मुँह लगाने का फल है। पहले आदतें बिगाड़ देते हैं और फिर मूँड पकड़कर रोते हैं,।" तीसरे ने बात काटते हुए कहा; "आखिर यह भी इन्सानी जज्बा है औरतों को मुँह लगाने का। अरे भई कौन होगा जो अपने आदमी के लिए दिल में हसरत न रखता हो लेकिन यह हमारी आर्थिक व्यवस्था ही ऐसी है कि जिसमें आदमी पैसे का गुलाम हो गया है और हर आदमी खुदकुशी के छोर पर घूमता रहता है। कोई खुद खत्म हो जाता है और कोई खत्म कर दिया जाता है।"

इसी समूह में खद्दर जी और बाबू ओंकारनाथ भी थे। खद्दर जी कह रहे थे, "मैं कहता हूँ यह सब आप लोगों की गैर-समाजी जिन्दगी का परिणाम है। देश में बड़े-से-बड़े नेता की जयंती हो, अहम-से-अहम मसले पर तकरीर हो, आप लोग बीबी का दामन छोड़ने के लिए तैयार नहीं। अगर इन्सान मिलकर बैठे, अपने रंज-गम एक दूसरे से बटाये, तो खुदकुशी के हालात होते हुए भी हम जिन्दगी की कठोर-से-कठोर परीक्षा से पार उतार सकते हैं। अगर देश में नई जिन्दगी पैदा करनी है तो सबको मिलकर खड़ा होना होगा।"

और बाबू ओंकारनाथ कह रहे थे, "महाशय जी ठीक कहते हैं, यह हमारी खुदगर्जी का ही फल है। एक-से-एक लुच्चा इस मोहल्ले में मिल जायगा लेकिन एक भी इन्सान-हमदर्द नहीं मिलेगा जो दूसरे की मुसीबत में खड़ा हो सके। इस मोहल्ले के पापों का प्याला भर गया दिखाई देता है। भगवान् जाने हमारी किस्मत में और क्या-क्या लिखा है।"

"जो लिखा है वह तो जहूर में आने लगा है।" एक अपरिचित-सा चेहरा बोल रहा था, " हमारी जिन्दगी स्वार्थों की इतनी संकुचित परिधि में घूमती है कि इन्सानियत का हकीकी रिश्ता हम लोग कभी आपस में कायम नहीं कर पाते। हम मिलकर इसलिए नहीं बैठते कि कहीं किसी से भाईचारा कायम न हो जाय और किसी के काम में दो क्षण हमारे नष्ट न हो जायं।"

तीसरा और बोला, "मुझसे पूछिये हम लोग आपस में क्यों नहीं मिलते। इसलिए नहीं मिलते कि हमारे दाग किसी पर जाहिर न हो जायं। आप जानते हैं कि हम सच्चरित्र और पवित्र होने का ढोंग इसी लिए करते हैं। लेकिन सिर्फ इसीलिए वैसा करते हैं, क्योंकि वैसा न करने से हम अपने मकानों से निकाल दिए जायंगे वरना पाप हमारी नस-नस में भरा हुआ है।"

इसी तरह मोहल्ले-भर के लोग आते रहे और अपनी-अपनी सम्मति प्रकट करके जाते रहे। जो इन्सान अभी-अभी अपने सामाजिक अपराध के प्रति अभिभूत हो उठे थे, वह फिर धीरे-धीरे उठ रहे थे और खिसक रहे थे। सिर पर सूरज की रोशनी मद्धम पड़ती जा रही थी और उस दोतल्ले वाले मकान से अब भी वह लाश अपना भयानक मुँह निकाल-निकालकर देख रही थी और अभी तक भी दरोगा बिकरमखां की वह कड़वी-कड़वी गालियाँ मकानों की बन्द खिड़कियों से टकरा रहीं थीं और इन सबके बावजूद भी इन्सानों की वह भीड़, जिसमें एक जगह मिलकर बैठने से इन्सानियत की हल्की-सी थिरकन पैदा हो गई थी, धीरे-धीरे ऐसे अस्त होती जा रही थी जैसे पश्चिम में सूरज-जो चमक रहा था लेकिन इस मोहल्ले के लिए जैसे अभी से रात के भयानक अंधेरे से घिरता जा रहा था।

३

प्रो० धीमर्जा

प्रोफेसर धीमर्जा, हमारे मित्र हैं और प्रोफेसर हैं इस बात से स्पष्ट है कि कोई मजदूर नहीं हैं। वह दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित हैं और यह कहते हैं कि विचार ही मानव का सर्वोपरि शृङ्गार है, उसके कर्तृत्व का सर्वश्रेष्ठ अंश है। इसीलिए उन्होंने अनेक बार यह स्पष्ट रूप से दोहराया है कि वह मजदूर नहीं हो सकते, हाँ मजदूरों को रोशनी दिखाने वाले उनके रहबर हो सकते हैं, "चिन्तन से मानव-विकास का क्रम आगे बढ़ता है, चिन्तन की मशाल लेकर अंधेरे में भटकने वाली इंसानियत के भविष्य को प्रकाशित करते रहने का काम ही हमने चुना है। इसके अलावा जो है वह क्षणिक है, नाशवान है, वह मानवीय जीवन-दर्शन का प्रेरक तत्त्व नहीं बन सकता।" ऐसा ही वह बहुत-कुछ कहते हैं।

यों अपने बारे में वह अधिक नहीं बोलते। कह लीजिए कि उन्हें बोलने पर मजबूर कर दिया जाता है। मित्र लोग उनकी रेशमी टाई, कीमती सूट और सुस्त जीवन की आलोचना करते-करते जब उन्हें अपने चारों तरफ फैली दुनिया में कुछ सक्रिय दिलचस्पी लेने की प्रेरणा भी देने लगते हैं, तो इस धिक्कार का उत्तर देते हुए वह कहते हैं—"मैं क्रांति का भारवाहक गधा नहीं हूँ, जीवन का उन्नायक फिलोसफर हूँ।" और यह भी कि—"मेरा समाज से कोई लगाव नहीं, जीवन मेरे लिए मिसाल नहीं है। मैं उसे चिंतक या प्रेरक नहीं मान सकता, मैं विचार की सत्ता को मानव की संस्कृति का वास्तविक मूल-

धन मानता हूँ। मनीषियों के चिन्तन से जिन्दगी का वृक्ष पल्लवित होता है। मैं दार्शनिक हूँ, तुम्हारे-जैसा घटिया इन्सान नहीं हूँ ?"

अपनी इस सुदीर्घकालीन मैत्री में हमने न जाने ऐसे कितने वाक्य-रत्न उनके मुखारविन्द से सुने हैं, पर हमने कभी उनके मुँह लगने का साहस नहीं किया। क्योंकि हम यह समझ चुके हैं कि एक सिपाही और दार्शनिक के कामों में ही नहीं, उनकी जबान में भी अंतर होता है और फिर प्रोफेसर धीमर्जा जैसा असाधारण पंडित, जिसने अपनी आयु का आधा हिस्सा विदेश में ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करते हुए बिता दिया, जिनकी पोशाक भी बाहर सिलती है और जिन्हें स्वप्न भी अँग्रेजी में ही आते हैं, जिनका भोजन भी शुद्ध अभारतीय है और बीमार पड़ने पर जो औषधि भी अभारतीय करते हैं, धर्म से चिढ़ते हैं, संस्कृति पर जोर देते हैं, इसलिए विलायती संस्कृति को अपनाये रखना एक ऐतिहासिक सेवा मानते हैं, त्वचा उनकी भारतीय न होती, तो सहसा अनुमान लगना कठिन होता कि संसार के किस भूमि-खण्ड ने इस रत्न को जन्म दिया है, पर जो चीजें विलायत में वर्षों रहकर भी उनसे न छूटीं वे हैं उनकी चमड़ी का रंग और बनारसी पान।

जी हाँ, प्रोफेसर धीमर्जा ऐसे ही कुछ अद्भुत आदमी हैं, पर हृदय के सच्चे, शिष्ट और साधु हैं। दूर रहने पर भी याद आने वाले, सच्चरित्र और विश्वास-पात्र! आज डेडलेटर आफिस से लौटकर आने वाले अपने एक मित्र के पत्र को पढ़कर सहसा प्रो० धीमर्जा की याद हो आई। पत्र में कुछ ऐसी चर्चा थी कि जिसको पढ़कर धर्म और संस्कृति के ठेकेदारों को वह खरी-खरी सुनाते। क्योंकि ऐसा करने का उनका अभ्यास था और इन मंत्रणाओं का महत्त्व उनके मित्रों के लिए सदैव ही ऐतिहासिक होता था।

वह पत्र हमारे एक दुर्घटना-ग्रस्त मित्र का था जो पता लिखते समय असावधानी करने पर स्वयं दुर्घटना-ग्रस्त हो गया था। पत्र मित्र ने बहुत ही दुखी हृदय से लिखा था। पर पत्र इतना दिलचस्प था कि मैं अकृतज्ञ उसे बार-बार पढकर मित्र के दुःख से प्रसन्न होने का अपराध करने पर मजबूर हो उठा था।

पत्र मैंने जेब में खोंस कर प्रो० धीमर्जा के निवास-स्थान का रास्ता पकड़ लिया। बराण्डे में पड़ी कुर्सी पर बैठते हुए प्रो० धीमर्जा के कमरे की ओर देखा तो कोई सज्जन गले में रेशमी पटका डाले पद्मासन से पीठिकारूढ़ ध्यानमग्न दिखाई दिए। उनके सामने कोई प्रतिमा थी जिसके हाथ पैर उनकी पीठ की परिधि से बाहर निकल आए थे और जहाँ तक दीख पड़ता था, वह कमरा एक अच्छा खासा देवालय जान-पड़ता था। सोचा, प्रोफेसर धीमर्जा क्या हुए ? मकान वही है, दोनों ओर ठीक वही क्वार्टर, वही बगीचा, वही विलायती फूल, जो प्रोफेसर ने इटली की एक प्रसिद्ध नर्सरी से मँगाए थे। पर ये धर्मात्मा उदाराशय कौन ?

सहसा हम कुर्सी से उठ खड़े हुए। अपरिचित वातावरण इतना गालिब हुआ कि लौटने को जी चाहने लगा, पर इतनी दूर आए थे तो चाहे कितनी ही बेतुकी बात क्यों न थी, धीमर्जा के नाम की एक आवाज लगा देना हमने जरूरी समझा। सोचा, मकान छोड़ गए होंगे तो पता ले लिया जायगा और बड़े साहस से उस ध्यानी को अप्रसन्न करने की आशंका और घबराहट को दूर करते हुए हमने पूछा—"क्या प्रोफेसर धीमर्जा अन्दर हैं ?"

उत्तर तो क्या कहीं से पत्ता खड़कने की आवाज भी न आई। सामने वाले सज्जन न हिले, न डुले। "क्या प्रोफेसर धीमर्जा यह

मकान छोड़ गए हैं ? मैं उनके नए मकान का पता जान सकता हूँ ?" अबकी बार हमें क्रोध आ गया था और आवाज तीखी पड़ गई थी, इस पर भी वह सज्जन बिना सिर घुमाए ही बोले—"मकान छोड़ गए हैं, पता नहीं मालूम।"

कितना अशिष्ट और बेहूदा उत्तर था। हमने सोचा कि प्रो० धीमर्जा ऐसे पुजारियों को ठीक ही फटकारते हैं, जिन्हें शिष्टाचार के प्रारम्भिक उसूल भी नहीं मालूम। हम लौट चले तो, लेकिन मन घृणा और विषाद से भर उठा था।

चार कदम चले होंगे कि पीठ पर भयानक अट्टहास गूँज उठा। हमारी परेशानी और भी बढ़ गई क्योंकि उसका मजाक उड़ाया जा रहा था। हमने पीछे घूमकर उस उद्धत व्यक्ति को देखना चाहा, तो बस देखते रह गए। स्वयं प्रोफेसर धीमर्जा खड़े अट्टहास कर रहे थे।

मुड़ीं मूँछें, ढलवाँ कन्धे, ऊँचा कद, खल्वाट खोपड़ी, आँखों पर चश्मा, रेशमी चोगा, पीला रेशमी पटका ! यही प्रोफेसर धीमर्जा थे। लगते थे जैसे दक्षिण प्रान्त की श्रमणी कोई हो। कितना विस्मय ! सूरज की रोशनी में खुली आँखों दीखने वाला स्वप्न ! हमने कहा—"आखा''आप हैं ?" नाम फिर भी मुँह से नहीं निकला।

"ठीक-ठीक ! मैं ठीक ही समझा था। पहले पहचाना नहीं था, और अब पहचान कर भी बौरा रहे हो। उधर तो देख लेते ?" प्रोफेसर ने अपने परिचय-पत्र की ओर अँगुली उठाते हुए कहा।

परिचय-पत्र पर लिखा था—प्रोफेसर धर्मराज।

हमने परिचय-पत्र के सुन्दर अक्षरों पर हाथ फेरते हुए कहा—"ओहो धर्मराज ? धर्मराज ?" सच पूछें तो वह सब इतना रहस्यमय

था कि हम कुछ बोल ही नहीं पा रहे थे। कुछ माया समझ में ही नहीं आती थी।

उन्होंने अन्दर आने का इशारा करते हुए कहा—"आओ ?" हमने जूतों की ओर हाथ बढ़ाया।

"नहीं, नहीं जूते पहने हुए ही आ जाओ। वैसी बात नहीं है, बड़े दिनों बाद घूम पड़े हो, इसलिए इतना आश्चर्य कर रहे हो।"

सचमुच मेरे आश्चर्य का तो ठिकाना ही नहीं था। कमरे में पहुँचा तो दीवारों पर लगे चित्रों और मूर्तियों से निगाहें लड़ाता रहा। प्रोफेसर मेरी मुद्रा देखकर कुछ उतर-से गए थे। बाहर से आते हुए नौकर को आवाज देकर उन्होंने जलपान लाने का आदेश दिया। हमने पूछा—"सरिता भाभी को कहाँ भेजा, भाई साहब ?" पर वह चुप रह गए। थोड़ी देर ठहरकर हम फिर बोले—"प्रोफेसर धर्मराज साहब, यह शुद्ध सांस्कृतिक पोशाक कितनी खूब लगती है आपको। किसकी प्रेरणा कारगर हो गई आप पर ?"

उनके चेहरे पर शिकन पड़ गई, बोले—"बुढ़ापे में किसकी प्रेरणा कारगर होने वाली थी मुझ पर। दुष्टों के इस देश में सच्ची प्रेरणा सम्भव है कहीं। जेलखाने की जिन्दगी बिता रहा हूँ। देखते हो यह ढोंग ?" उन्होंने स्वाभाविक नाटकीय अन्दाज से दीवारों की ओर संकेत करते हुए कहा—"तुम जानते हो, इस जीवन में उनकी पूजा मैं कभी कर सकता था। धर्म के नाम पर शोषण और मक्कारी की हथियार यह बुतपरस्ती !"

तो फिर यह सब क्या है ? मैंने सोचा। कहीं प्रोफेसर का दिमाग तो नहीं बिगड़ गया है। मुझे लगा कि यह प्रोफेसर धींमर्जा-क्षमा

कीजिये—धर्मराज, कहीं विदेशी जासूस तो नहीं हो गए हैं। पर यह अपशकुन अधिक देर टिका नहीं ? और मेरे फेफड़ों में हल्की-हल्की गुदगुदी होने लगी । पूछा—"कुछ सुनाओ तो सही मित्र ? कुछ-भूत प्रेत...पर तुम तो यार उनमें भी विश्वास नहीं करते, उनमें क्या, तुम तो किसी भी पार्थिव तत्व से प्रेरणा स्वीकार करने को लानत भेजते हो ?"

मेरी बात काटते हुए उन्होंने कहा—"कोई भूत-प्रेत नहीं साहब। जहालत, जहालत, धर्म और संस्कृति के काम पर गुण्डई।" प्रोफेसर की बातें सुनकर मुझे मृतक-पत्र कार्यालय से आए उस पत्र को याद आ गई थी। चुपके से जेब में हाथ डालकर उसके अस्तित्व को अनुभव किया। पत्र प्रोफेसर के हाथ में देने का साहस नहीं हुआ। हमने पूछा—"तो क्या कहीं गुण्डों में फँस गए थे, भाई साहब ? बाप रे बाप, कितने सभ्य, सुसंस्कृत और सच्चे मानव धर्म को समझने वाले आप एक विद्वान् प्रोफेसर, और कहाँ वे गुण्डे ?"

"जी हाँ, विद्वत्ता तो उनकी चमरौधी जूतियों की नोक पर नाचती है। पन्द्रह दिन हुए होंगे बाजार से लौट रहा था। तुम जानते हो धर्म भीरुओं की तरह मैं अफवाहों से नहीं डरता और जरा-सा झुटपुटा हो जाने पर धर्मशाला भी नहीं तलाशता, पर क्या मालूम था कि मुझ ही को यह दिन देखना पड़ेगा। कूचा दलमीर से सौ कदम आगे चला हूँगा कि अगल-बगल से निकलकर चार आदमी मेरे सामने आ गए। छूटते ही बोले—'ठहर जा, क्या नाम है तेरा ?' मैंने कहा—'मेरा नाम धीमर्जा है। प्रोफेसर धीमर्जा...क्रिश्चियन कालिज...।' पर बात भी पूरी कहाँ करने दी उन्होंने। एक बोला, 'क्या बकता है, धीमर्जा। हिन्दू है कि मुसलमान।' मुझे गुस्सा आ गया। डपटकर

कहा—'डेमिट, हम हिन्दू-मुसलमान कुछ नहीं।' और उन्हें इन्सान का सही रूप इतने समझाता कि एक बोला'—'तो क्रिस्तान है—हिन्दुस्तान का खून चूसने वाला।' और एक हाथ भी चला दिया बद-माश ने और अगर मैं सिर न झुका लेता तो न जाने क्या हो गया होता।"

प्रोफेसर इतना कहकर पटका ठीक करने लगे। मैंने कहा—"ओफ, गुस्ताखों ने हाथ भी चला दिया?"

"जी हाँ" प्रोफेसर कहने लगे, "दूसरे ने गरेबाँ में हाथ डालकर जोर से मेरी गर्दन दबाई और कहा—ठीक-ठीक बोल। हिन्दू है कि मुसलमान? ऐसा भी कोई बसर होवे है जो न हिन्दू होवे न मुसल-मान होवे और क्रिस्तान भी न होवे।' और इतना कहते-कहते एक दूसरा-जो खड़ा-खड़ा मेरी ओर घूरता रहा था-जिसके कपड़ों से तेल की बदबू आ रही थी और पेशेवर पहलवान मालूम होता था,—आगे बढ़कर बोला—"ठीक-ठीक बोल दे, नहीं तो एक चपड़ास में कनपट्टी उतार लूँगा।' मैं काफी घबरा गया था, दीनदयालुजी! बुरा हो उस कमबख्त का जिसने इन जाहिलों की जमात को जनता जनार्दन कहा। मैं जानता हूँ यदि वह जनता जनार्दन मेरी बात समझ सकते और मुझे बोलने का मौका देते, तो कसम से, मैं उन्हें आपका शिष्य बनाकर छोड़ सकता था, पर बोलता कैसे। उसने गुब्बारे की तरह गर्दन जो दबा छोड़ी थी। पहलवान को यह देखने की क्या पड़ी थी। उसे मारना था तो बिना अपने प्रश्न का उत्तर सुने ही उसने हाथ उड़ा दिया। मैं पृथ्वी पर गिरते-गिरते बचा, पर शुक्र था कि गर्दन उस क्रूर के हाथ से छूट गई थी। मैंने पहलवान की ओर मुखातिब होकर कहा—'पहलवान जरा इतना तो देख लेते कि हमारी गर्दन दबी है, तो

उत्तर कहाँ से देंगे। अरे हमारा नाम चन्द्रप्रकाश धर्मराज है।'' तो एक ढीठ हँस कर क्या कहता है। 'ले भय्यू तेरी तो एक टिकी में ही सूधा धर्मराज बन गयो। चपड़ास लग गई तो बिरमा के आसन पै हाथ मारैगो।' फिर वह खुसरे की तरह अदा दिखाकर कहने लगा—था 'अच्छा भय्यू धर्मराज, तारा जनेऊ देखें—कपड़े, उतारो?'

इसके बाद कहानी को क्लाइमेक्स पर पहुँचाकर प्रोफेसर धर्मराज पान-बीड़े बनवाने अन्दर चले गए। मेरे अन्दर जो हास्य रोकी गई जल-धारा की तरह काट कर रहा था, अवसर पाकर मुखरित हो उठा, मैं सोचता जा रहा था-बाप रे बाप, कहाँ ये कठोर हिन्दुस्तानी गाँव और कहाँ यह विलायती दार्शनिक और सचमुच जनता को जनार्दन नाम से संबोधित करके जिसने जनता की शक्ति को सर्वप्रथम पहचाना? मन-ही-मन उसकी दूर बुद्धि को मैं प्रणाम कर रहा था। महाभारत के जनार्दन ने जैसे अधर्म का नाश करने के लिए अवतार लेने को व्यवस्था का गीता में वर्णन किया था, यह क्या उससे कुछ कम हौसले का काम था। ठीक है–यह विधर्मी प्रोफेसर, जो आदमी और आदमी का भेद नहीं मानता, विधर्मी और उसे ठीक करने वाले उस्ताद-जनता जनार्दन और इस तरह में न जाने कितने मकूले गढ़ता चला जाता, अगर प्रोफेसर दो बीड़े खुद खाकर और एक मेरे लिए लेकर न आ पहुँचते। मैंने कहा—"मित्र धर्मराज, आगे क्या हुआ, क्या कपड़े उतारने पड़े? अरे इतना तो क्या मजबूर किया होगा कम्बख्तों ने?"

"अरे मजबूर नहीं तो क्या," प्रोफेसर फिर बोले, "गली ही ऐसे मौके पर थी जो चिड़िया भी उतने समय उधर से पर नहीं मारती। यह तो अपने भाग्य समझो कि दूर से एक मोटर की रोशनी पड़ती नजर आई, पर वे तो गली के अन्दर ही खींचने लगे थे। एक ने जेब

में हाथ डालकर तुम्हारी भाभी का सोने का चैन निकाल लिया। अरे उसी कम्बख्त को ठीक कराने तो जाना पड़ा था। हाथ की घड़ी और फाउंटेन पेन और इस पर भी अन्दर खींचे लिये जाते थे। घबराहट हुई कि लूट-पोटकर कहीं जान से न मार दें। हमने कहा—'अरे भाई निशानी देखकर क्या करोगे। ऊपर की निशानी से क्या असलियत का पता चलता है? तुम्हीं देखो. वैसे धर्म का काम करने निकले हो, पर अपने ही भाई का खून किये दे रहे हो।' यह बात शायद एक को चुभ गई। बोला—'क्या मोटर की तरह घर्रावे है। सोचा अभी से बच गया। अबे अलीरजा का भाई धीमरजा। कई दिन के बाद हाथ चढ़ा है।' तब हमें कहने पर मजबूर होना पड़ा कि हमारे बुजुर्ग तो पुरबिया ब्राह्मण हैं भाई, चौके में जीमने वाले और फिर यह भी कहना ही पड़ा कि भाई हमारी तो विलायत रहने से आदतें बिगड़ गई हैं। चाहो तो देख लो निशानी भी। मालूम होता है तुम्हें हमारे नाम पर शक है तो भाई यह तो धर्मराज का अँग्रेजी में बिगड़कर उसी तरह धीमर्जा हो गया जैसे सक्सेना का सौनरिक्सा, हिन्दू नाई का हिन्डोनिया और ठाकुर का टैगोर! अरे रवीन्द्रनाथ टैगोर का नाम तो सुन ही रखा होगा।' मेरी बात सुनकर पहलवान बोला—"क्या गीदड़-सा घिघियावे है। अगर हिन्दू है तो बोल राम के ससुर का नाम, गायत्री का जाप कर, गीता का श्लोक पढ़।" हमने पढ़ लिया सब कुछ और बता दिया राम के ससुर का नाम भी। फिर उसने गली से बाहर धक्का देते हुए हमसे कहा—"क्यों खामूखाँ मरने को डोलता फिरे है देर-सवेर, चुटिया रख, जनेऊ पहन, क्रिस्तान बना घूमे है। सँगवाय के रख देगा धी के क्वारे कोकोई। नास्तक कहीं का।" और चंपत होगए।"

और फिर प्रोफेसर यकीन के साथ चुप हो गए। पान का एक और बीड़ा माँगने से पता चलता था कि कहानी उनकी खत्म होगई थी।

मैंने कहा—"आपकी बातें असर कर गईं जनता जनार्द्दन पर?"

"खाक असर कर गई।" प्रोफेसर बेपरवाही से बोले—"मोटर की रोशनी उसी ओर आती दिखाई देने लगी थी।"

मैंने फिर कहा, "खैर कुछ भी सही जान तो बच गई आपकी।"

"जी बच गई है? कौन कह सकता है कि जो चौराहे पर पकड़ सकते हैं वे घर में घुसकर हाथ साफ नहीं कर सकते। मैंने प्राइम मिनिस्टर को चिट्ठी लिख दी है कि मैं प्रोटेक्शन चाहता हूँ?"

"वह तो ठीक ही किया आपने। वह भी क्या डेमोक्रेसी जहाँ आप-जैसे विद्वानों का भी प्रतिष्ठा के साथ जीना मुश्किल हो जाय। प्रोटेक्शन तो जरूर मिलेगी। पर मैं तो देखता हूँ और देखने की बात भी है, किस कदर अधिकार कर लिया है आपने अपनी आदतों पर, अपने विचारों पर। क्या ताज्जुब था उस बुरे वक्त आपको मार्टिनलूथर की याद आ जाती, हकीकतराय या बंदा बैरागी की याद का तो डर मुझे नहीं था तो क्या आपके दर्शन करने का यह सौभाग्य प्राप्त होता कभी," मैंने कहा।

"बेशक दीनदयालुजी भाग्य से ही छूटे, पर यार तुमसे कैसे छूट सकते हैं? चोट पर चोट दे रहे हो, पर अब कालिज खुलने वाले हैं। कैसे होगा। क्या सबसे इसी तरह यह घटना बयान की जा सकती है। जिन्हें मुझसे, मेरे विचारों से चिढ़ है वे क्या जिन्दा छोड़ेंगे मुझे?" प्रोफेसर बोले।

"तो फिर हर्ज भी क्या है," मैंने कहा, "देखता हूँ इस पोशाक में आपके पांडित्य की छाप और भी गहरी दिखाई पड़ती है। अब तो आप भी थोड़ा अभ्यस्त हो गए होंगे। घर का तो सारा नक्शा ही

बदल डाला है। अब जल्दी से सरिता भाभी को बुला लीजिए।" और उनसे महानुभूति दिखाने के लिए हम अपने मित्र का पत्र उन्हें दिखाने लगे थे पर फिर सोचा मृतक पत्र कार्यालय से आया पत्र इस गरीब को दिखाकर क्या करना है? नौकर जल-पान ले आया था और तरतीब से तश्तरियों में रखने लगा था। और मैं सोच रहा था प्रो० धीमर्जा से धर्मराज हो गए तो मित्रों से बहस में किनके नेता बन सकते हैं और किन सिद्धांतों का प्रतिपादन कर सकते हैं?

हम लोग अब चुप हो गए थे और वातावरण भी सुखांत होता आ रहा था। मैं चलने की सोचने लगा था। नाश्ते को सामने देखकर कहा—"धर्मराज जी मंत्र उच्चारिये तो, फिर भोग लगाया जाय और आपसे आज्ञा ली जाय ?"

इस बार धर्मराज भूतपूर्व प्रोफेसर धीमर्जा के अनुरूप विराट अट्ट-हास में विभोर हो उठे, जिससे उनके कान गोसाईं जी के कनकटे कुत्ते के समान खड़े हो गए और जबड़े पुनिया पनवाड़िन के पानदान की तरह फैल गए।

४

लाशों के ढेर में

इस निर्णय पर पहुँचते कितनी वेदना होती है कि मानव को अपना जीवन-संहार भी आमोद-प्रमोद से कम प्रिय नहीं है। जिस स्थान पर मैं खड़ा हूँ वह भारत के विशालतम नगर का वह भाग है जहाँ की भूमि में भागीरथी के स्नान से लौटे धर्मात्माओं के श्रुति-मधुर मन्त्र अब भी प्रतिध्वनित होते सुनाई पड़ते हैं। और साथ ही हुगली के विशाल गर्भ में लाशों के छपाक-छपाक गिरने का शब्द भी ढहते कगारों के समान बीच-बीच में सुन पड़ता है।

नगर भर में आतंक छाया हुआ है। गलियाँ, उद्यान और मुख्य-पथ बेशुमार लाशों से अटे पड़े हैं। इमारतों के खण्डहरों से घायलों की धीमी-धीमी कराहट रणभेरी के बुझते हुए स्वर के समान वातावरण में गूँज रही है।

इस स्थान से मार-काट करने वालों का गिरोह अभी-अभी गुज़रा है। विशाल एवं गगनचुम्बी इमारतों में ऊँचाई पर जलती हुई ज्वाला दाहक बमों-सा आतंक पैदा कर रही है। छोटी इमारतों की आग बुझ चुकी है और झोंपड़ों की पराजित अग्नि चिटख-चिटखकर ऐसा दृश्य उपस्थित कर रही है—जैसे पशुओं के हड़वार में शृगाल और लोमड़ियों का झुण्ड पूर्ण संतोष के साथ हड्डियों का कड़क-कड़क भोग लगा रहा हो।

जो मरे हैं उनमें किशोर बालक-बालिकाएँ, माता के स्तनों से खेलने वाले शिशु, वृद्धाएँ और मातृत्व के गौरव से विभूषित जननियाँ भी हैं, जिनके स्तन काट डाले गए हैं और दृष्टि-वर्जित स्थानों का उच्छेदन कर डाला गया है।

एक ओर किसी दूर देश से आए जवान यात्री का धड़ अपनी प्रियतमा के लिए लाई गई वस्तुओं के मध्य वीभत्स दृष्टि से न जाने अदृश्य के किस जटिल प्रश्न को सुलझाने में लगा है। पास में ही नगर का चिरपरिचित अन्धा भिखारी निर्दयतापूर्वक कटा पड़ा है, जिसकी परास्त लकुटी अभी तक उसमे गले मिल रही है और स्वामी से बिछुड़ कर उसका क़ासा एक निर्जन कोने में अनाथ-सा पड़ा है। इन सब लाशों से गर्म-गर्म खून बह रहा है और बहकर निकटवर्ती नालियों में भरता जा रहा है। ध्वस्त पिंजड़ों का मोह न त्याग सकने वाले जीव अपनी अरुहाय और करुण-पुकारों से शरीर को भेदे डाल रहे हैं।

कई दिन से अनवरत चलता हुआ यह नरमेध कब समाप्त होगा, यह कौन जानता है। जिन सिद्धान्तों ने बार-बार ऐसे मानव-संहार पर हमें ला पटका है उन्हें दुनिया जानकर भी समाप्त न करने पाई, तो फिर यह कभी समाप्त भी होगा, यह भी कौन कह सकता है।

हुगली की चढ़ती हुई जल-धारा दूर तक फैली हुई थी और इन दो तूफानों के मध्य इन्हीं विचारों में तल्लीन इस विस्तृत श्मशान को मैं पार कर रहा था।

मैं मुख्य सड़क से बचकर चल रहा था, पर काँस की झाड़ियों में मेरे पैर से कुछ टकरा गया। मैंने टार्च से देखा एक स्त्री की लाश थी। गौर करने पर पता चला कि उसका एक स्तन कटा था, जिसके ज़मीन

से चिपके होने के कारण रक्तस्राव बन्द हो गया था। जिस्म पर एक-दो हल्के जख्म और भी थे जिनसे रक्त छिनक रहा था। उसकी पलकें बन्द थीं और लगता था अचेतनावस्था में ही उसके मुँह से कराह निकल गई है। काले-काले चींटे अपनी कमरें उचकाते हुए उस देह पर कब्ज़ा करने के लिए आ डटे थे।

मैंने रूमाल फटकारकर उन बेदर्द और दार्शनिक चीटों को दूर भगा दिया। रूमाल हाथ पर लगे हरे जख्म पर बाँध दिया। अपनी बोतल में से पानी निकालकर उसके ओठों पर डाला और रक्तस्नात पलकें धोईं। उसने अस्पष्ट स्वर में पानी माँगा और पलकें ऊपर उठाईं जिनके नीचे छिपे नीलम की तरह चमकने वाले दो नेत्र प्रकट हुए। उनमें वेदना थी, स्वास्थ्य और दृढ़ता का प्रकाश था। इतने जख्म होते हुए भी उस महिला ने इतने संयम से काम लेकर मुझे आश्चर्य में डाल दिया।

उसने पूछा, "आप कौन हैं?" स्वर में क्षीणता एवं आश्चर्य मिला था।

"मुझे एक मित्र ही समझें" मैंने कहा, "आपको यहाँ से उठाकर ले चलता, किन्तु घावों के पृथ्वी से चिपके रहने के कारण जो रक्त-स्राव बन्द हो गया है, उठाने से वह पुनः बहना शुरू हो जायेगा।"

"अच्छा है अन्त जल्दी आ जाए। इस नश्वर शरीर में बँधे रहने का क्या अर्थ है। मैं मर जाऊँगी तो मुझे पूर्ण सन्तोष होगा।"

"आखिर जीवन से इतना निराश होने की क्या बात है?" मैंने उसको दिलासा देते हुए कहा, "अभी कोई एम्बुलैंस कार इधर से गुज़रेगी और मैं आपको अपने साथ ले चलूँगा!"

मेरी बात सुनकर उसके चेहरे पर क्षीण हास्य-रेखा उभर आई। बोली; "अपरिचित मित्र आपके अन्दर मेरे जीवन के प्रति बड़ा ममत्व उमड़ आया है, लेकिन मेरा उद्धार करके आप प्रसन्न नहीं होंगे। मेरा आज जो अन्त हो रहा है उसकी क्या कभी आशा थी और मार-काट की दीवार को चीरकर आप उद्धार करने आ जायेंगे इसकी तो स्वप्न में भी कल्पना न कर सकती थी। इसलिए मेरे लिए कुछ न भी कर सकें, तो दुखी होने की बात नहीं है?"

"कृपा करके अपने बन्धु-बान्धवों का पता तो बताए। यदि सहायता न भी कर सका तो समाचार उन तक पहुँचाकर उनकी भर्त्सना कर सकूँगा कि ऐसे सङ्कट भरे समय में उन्होंने आपको भटक जाने दिया।"

परंतु मेरी बात सुनकर भी वह चुप रही। जख्मों से उठने वाली पीड़ा को दाँतों से ओठ दबाकर अन्दर-ही-अन्दर सहने का प्रयत्न कर रही थी।

"आपको बहुत पीड़ा हो रही है? मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि कोई सहायता प्राप्त हो जाय," मैंने कहा।

महिला ने हिलकर करवट बदलने का प्रयत्न किया किन्तु मैंने उसे वहीं रोक लिया। बोली, "सुन्न हो गई है मेरी करवट? लेकिन जैसी आपकी इच्छा। पीड़ा सहने की तो लम्बी आदत है। आत्मा तो कब की मर चुकी, अब इस शरीर को बचाने का प्रयत्न न कीजिए।"

महिला की वाणी में दर्द था, टीस थी और विगत जीवन के प्रति कराहट थी जो शायद बहुत दुखी रहा होगा। "सहायता न भी मिले, पर मैं आपको यहाँ से निकाल ले चलूँगा। आपने अपने को दङ्गाइयों को सौंपकर कितना बड़ा अन्याय किया है।"

से चिपके होने के कारण रक्तस्राव बन्द हो गया था। जिस्म पर एक-दो हल्के जख्म और भी थे जिनसे रक्त छिनक रहा था। उसकी पलकें बन्द थीं और लगता था अचेतनावस्था में ही उसके मुँह से कराह निकल गई है। काले-काले चींटे अपनी कमरें उचकाते हुए उस देह पर कब्ज़ा करने के लिए आ डटे थे।

मैंने रूमाल फटकारकर उन बेदर्द और दार्शनिक चीटों को दूर भगा दिया। रूमाल हाथ पर लगे हरे जख्म पर बाँध दिया। अपनी बोतल में से पानी निकालकर उसके ओठों पर डाला और रक्तस्नात पलकें धोईं। उसने अस्पष्ट स्वर में पानी माँगा और पलकें ऊपर उठाईं जिनके नीचे छिपे नीलम की तरह चमकने वाले दो नेत्र प्रकट हुए। उनमें वेदना थी, स्वास्थ्य और दृढ़ता का प्रकाश था। इतने जख्म होते हुए भी उस महिला ने इतने संयम से काम लेकर मुझे आश्चर्य में डाल दिया।

उसने पूछा, "आप कौन हैं ?" स्वर में क्षीणता एवं आश्चर्य मिला था।

"मुझे एक मित्र ही समझें" मैंने कहा, "आपको यहाँ से उठाकर ले चलता, किन्तु घावों के पृथ्वी से चिपके रहने के कारण जो रक्त-स्राव बन्द हो गया है, उठाने से वह पुनः बहना शुरू हो जायेगा।"

"अच्छा है अन्त जल्दी आ जाए। इस नश्वर शरीर में बँधे रहने का क्या अर्थ है। मैं मर जाऊँगी तो मुझे पूर्ण सन्तोष होगा।"

"आखिर जीवन से इतना निराश होने की क्या बात है ?" मैंने उसको दिलासा देते हुए कहा, "अभी कोई एम्बुलैंस कार इधर से गुजरेगी और मैं आपको अपने साथ ले चलूँगा !"

मेरी बात सुनकर उसके चेहरे पर क्षीण हास्य-रेखा उभर आई। बोली; "अपरिचित मित्र आपके अन्दर मेरे जीवन के प्रति बड़ा ममत्व उमड़ आया है, लेकिन मेरा उद्धार करके आप प्रसन्न नहीं होंगे। मेरा आज जो अन्त हो रहा है उसकी क्या कभी आशा थी और मार-काट की दीवार को चीरकर आप उद्धार करने आ जायेंगे इसकी तो स्वप्न में भी कल्पना न कर सकती थी। इसलिए मेरे लिए कुछ न भी कर सकें, तो दुखी होने की बात नहीं है?"

"कृपा करके अपने बन्धु-बान्धवों का पता तो बताएं। यदि सहायता न भी कर सका तो समाचार उन तक पहुँचाकर उनकी भर्त्सना कर सकूँगा कि ऐसे सङ्कट भरे समय में उन्होंने आपको भटक जाने दिया।"

परंतु मेरी बात सुनकर भी वह चुप रही। जख्मों से उठने वाली पीड़ा को दाँतों से ओठ दबाकर अन्दर-ही-अन्दर सहने का प्रयत्न कर रही थी।

"आपको बहुत पीड़ा हो रही है? मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि कोई सहायता प्राप्त हो जाय," मैंने कहा।

महिला ने हिलकर करवट बदलने का प्रयत्न किया किन्तु मैंने उसे वहीं रोक लिया। बोली, "सुन्न हो गई है मेरी करवट? लेकिन जैसी आपकी इच्छा। पीड़ा सहने की तो लम्बी आदत है। आत्मा तो कब की मर चुकी, अब इस शरीर को बचाने का प्रयत्न न कीजिए।"

महिला की वाणी में दर्द था, टीस थी और विगत जीवन के प्रति कराहट थी जो शायद बहुत दुखी रहा होगा। "सहायता न भी मिले, पर मैं आपको यहाँ से निकाल ले चलूँगा। आपने अपने को दङ्गाइयों को सौंपकर कितना बड़ा अन्याय किया है।"

"अन्याय, हाँ अन्याय तो किया ही है। सलोचना भी यही कह रही थी। बीबी तुम उनका कहना मान लो। ज़िद करके तुम अपने साथ अन्याय कर रही हो!"

आगे मेरे मस्तिष्क में रहस्य की लड़ी डालती वह चुप हो गई। कुछ देर के लिए वह हतचेत-सी हो गई। पड़ोस से कुछ भयावह चीत्कार आई। उसके क्षीण पड़ जाने पर मैंने सुना, वह कह रही थी- "इसी तरह वह हमारे मकान पर चढ़ आये! बुरी-बुरी गालियाँ देते हुए फाटक तोड़कर अन्दर घुस आए, और घर की सब माल-दौलत उन्होंने बाहर निकालकर रख देने को कहा। मैंने जो था—जेवर, नक़द सभी निकालकर उनके सामने रख दिया। उनमें से एक ने आगे -बढ़ कर कहा, "बोलो तुम कौन हो हिन्दू हो या मुसलमान?" मैंने कहा, "बड़े, साहब हमारा तो कोई ईमान है न धरम। कौन-सी जाति और कौन सा धर्म बतायें अपना हम। सभी धर्म हमारे धर्म हैं और सभी जातियाँ है।" इस पर एक ने खंजर दिखाते हुए कहा, "सड़ाका लगा रही है हरामज़ादी। बुला सब लौंडियों को भी।" यह बात सुनकर मेरे तन में आग लग गई। मैंने कहा, "चाकू दिखाते हो जनाब! मैं यहाँ खड़ी हूँ। लौंडियों को नहीं बुलाऊँगी।" पर वह माने नहीं। फाटक तोड़कर कमरों के अन्दर घुस गए और सभी को बाल पकड़कर बाहर घसीट लाए। सलोचना ने मेरे कान में कहा था, "इन जालिमों ने सन्तरियों को और बाबा को भी क़त्ल कर दिया है। मैं अन्दर-ही-अन्दर और कठोर हो गई। पर यहीं नाटक का अखीर न होना था। एक नौजवान ने आगे बढ़कर कहा, "सब लोग अपने कपड़े उतार डालो।

मैंने कहा, "रुपया-पैसा लेकर भी तुम्हारा पेट न भरा। अब और क्या चाहिए?"

पर उसने कहा, "शेखी न दिखा। जो कपड़े न उतारेगी उसके खंजर उतार दूँगा।" और सचमुच उसका लपलपाता खंजर देखकर सभी ने आन की आन में कपड़े उतार डाले। सलोचना ने भी। पर मैं वैसे ही खड़ी रही। सलोचना ने शर्म से भागते हुए कहा, "बीवी कपड़े उतार डालो, नहीं तो मार डालेंगे?"

मैं जानती थी कि मेरी मौत सामने है। परंतु मुझे उसकी चिन्ता तनिक भी न थी। कमरों में बलात्कार हो रहा था और लौंडियें बड़े लरुण स्वर में मिमियां रही थीं। आँखों में आँसू आ गए। मैंने उनमें से एक की बाँह झकझोरकर कहा, "सुनिए साहब मैं तो इंसान की एक जरूरत मानती हूँ और वह है पेट की। सो सारा माल-मता तुम्हें दिया। अब क्या चाहिए? कोई मज़हब और ईमान किसी की आबरू उतारने को नहीं कहता। आपकी भी तो माँ-बहिनें होंगी।"

"अलग हट औरत? नहीं तो .....नहीं तो.........।"

"नहीं तो........." से उसका मतलब खंजर पेट में उतारने से था लेकिन वह मुझे कुत्ते के बच्चे-सा लग रहा था। मैंने कहा—"खुलकर इस्तैमाल करो इसका। अपनी जान में जान रहते कभी ऐसा नहीं करूँगी।"

"पर उसके हाथ नहीं उठे........।"

उसने अपनी गाथा अविश्रान्त आरंभ कर दी थी। मैं देख रहा था उसकी इच्छा कहते चले जाने को है। परंतु इससे उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा था। मैंने उसे बीच में ही रोक दिया और उसका सिर हाथ से सहलाया।

परंतु रुक जाने से उसने कराहना आरंभ कर दिया। मुझे कुछ न सूझ पड़ा कि आगे क्या करूँ। सहायता किधर से भी आनी असंभव

लगती थी और अधिक देर उसी हालत में जख्मी को रहना हितकर नहीं हो सकता था। मेरे मस्तिष्क में पुनः जिज्ञासा उत्पन्न हो रही थी कि आखिर फिर उसकी यह हालत किस प्रकार हुई। मेरे पूछने पर उसने कहा।

"उसके हाथ नहीं उठे पर पीछे से भीड का रेला आया और मुझे उठाकर रौंद डाला गया। अब आपकी उपस्थिति में ही होश आया है। पर मैं सोचती हूँ "सौदामिनी तुझे क्या हो गया ? न जाने कितने लोगों के सामने तू निरावरण हुई है और आज तेरा मन-प्राण लोहे की तरह सख्त हो रहा है।"

आगे वह चुप हो गई। मेरी सकरुण मुद्रा को देख कर वह पुनः बोली, "इसलिए आप मेरे लिए चिन्तित न हों। मुझे छोड़ कर किसी ऐसे को बचाएँ जिसने जीवन-भर पुण्य किये हों। मुझे हुगली में फेंक दो। मैं तर जाऊँगी।"

पर मैं सोच रहा था कि सौदामिनी वेश्या है—जिसने सदैव तन बेच कर अपना पेट भरा है और इसमें इतनी आत्म-प्रतिष्ठा का उदय हुआ। हँसते-हँसते वह कितनी मर्मान्तक पीड़ा सहन कर रही है। क्या दमन से सत्य और साहस का उदय होता है और यदि इस दमन का आरोप न होता तो क्या यही सौदामिनी आजीवन अपना तन बेचती रहती और दुनिया में यह पवित्र-आत्मा दुनिया के गुनाहों का बोझा बनती ही जाती।

उसकी वाणी में विवेक और जीवन की विभूति थी। और सब दृश्य किसी दिव्यलोक के समान था जिसकी पृष्ठभूमि में मार-काट, चीत्कारें, गड़गड़ाहट और छपाक-छपाक की ध्वनि घनीभूत हो रही थी।

सौदामिनी भी यह सब-कुछ सुन रही थी और उसके अन्तर की

वेदना कभी-कभी कराह के रूप में होठों की दीवार को तोड़ डालती थी।

मैंने कहा, " अब मैं आपको कन्धे पर डालकर भाग जाना चाहता हूँ। इसलिए जमीन पर चिपके हुए घाव पर पट्टी बाँधना है थोड़ी देर के लिए अधिक-से-अधिक कष्ट उठाने के लिए तैयार हो जाइए।"

मैं पट्टियाँ बाँधता रहा। सौदामिनी चुपचाप मेरी ओर देख रही थी। उसके नेत्रों में करुणा, कृतज्ञता और वेदना थी और वह मुझमें निरन्तर कर्तव्य-बुद्धि का संचार कर रही थी।

मैं उसे कन्धे पर डालकर चलने वाला ही था कि निकट में गाड़ियों की गड़गड़ाहट और नारों की गूँज बढ़ने लगी। मैं दम साधकर उसकी ओर देख रहा था। सौदामिनी के नेत्रो में भी भय था। मैंने कहा,' 'डरो मत, सौदामिनी ! इन लोगों के निकलते ही हम हवा हो जायँगे।"

"मैं अपने लिए नहीं डर रही हूँ, इसलिए डर रही हूँ कि इन जालिमों की आँखों से नालियों में पड़े पागल भी नहीं बच पाते तो फिर दो इन्सान...!"

और सचमुच वह बदहवास भीड़ सारे पथ पर छाती चली आ रही थी। सौदामिनी को ज्यों-का-त्यों मैंने पृथ्वी पर रख दिया। पास-पड़ोस का कूड़ा-करकट उसके ऊपर चढ़ाकर मैं पास की झाड़ी में छिपने चला गया।

भीड़ का तूफान चला आ रहा था। लारियों से हृदय-द्रावक चीत्कारें आ रही थीं। भीड़ के लोग शराबियों की तरह ज़ोर से चीखते, नारे लगाते और बकते आ रहे थे।

धीरे-धीरे वह तूफ़ान भी चला गया। मैंने उठकर देखा, सारा प्रांतर शांत था। कहीं-कहीं घायलों के कराहने की आवाज़ और चीलों के झपाटे की सरसराहट वातावरण को निस्तब्धता को भंग कर रही थी। हुगली में भाटा आरम्भ हो गया था। पानी के उतार का कोलाहल स्पष्ट सुन पड़ रहा था।

मैं चौकन्ना होकर धीरे-धीरे चला कि अपने ध्येय तक जा पहुँचूँ। वहाँ जाकर देखा, सौदामिनी नहीं थी। कूड़ा-करकट टटोलकर देखा, एक-एक तिनका हटाकर देखा, जिनके नीचे इतनी बड़ी सौदामिनी खो गई थी।

मेरे हृदय से दीर्घ निःश्वास निकल गया, "ओफ़ ले गए उसे भी।" उस समय मेरा गला रुँध गया था और आँखों की अविरल धारा अन्तर्मुखी होकर गला घोंट दे रही थी।

५

उत्तरदायित्व

मैं अदालत के कमरे से लौटा हूँ, जहाँ मैंने मालती और अपने प्रेम पर कानून की मोहर लगाकर उसे पुख्ता कर दिया है। मालती अब चली गई है और मैं सूने आसमान के नीचे उस खामोश दरख्त की तरह खड़ा हूँ जिस पर अभी-अभी तूफान के थपेड़े पड़ चुके हों।

क्या हुआ कि मैं एक वैज्ञानिक हूँ और गणित के अनुसार क्रिया और प्रतिक्रिया, हानि और लाभ का सही-सही परिणाम निकालने का आदी हूँ। लेकिन एक वैज्ञानिक के दिल में भी रक्त से भरी नालियाँ टकराती हैं, जिनमें एक दिन सैलाब आता है, जिस तरह हर दिल में एक बार जनून पैदा होता है; और इस जनून को हम बीते युग के विश्वासों और आश्वासनों की रूढ़िबद्ध परम्पराओं से जकड़ रखने की कोशिश करते हैं। जिन्हें आने वाली पीढ़ियाँ नई परम्पराओं के रूप में अंगीकार करती हैं और अपना मार्ग प्रशस्त करती हैं।

सोचता हूँ यह सब मज़ाक था। मैं तो यों ही मज़ाक का शौक़ीन नहीं था। मज़ाक की आदत को कभी मानवीय जीवन का बुनियादी पहलू मैंने नहीं माना। पर आज सोचता हूँ। दो कदम रखकर चलने वाले हर इन्सान की रगें—उसके अनजाने ही—एक वक्त आता है कि मज़ाक से कसमसाने लगती हैं और वह कसमसाहट कहती है कि तुम्हारे रास्ते में जो आये उसी को मसल डालो या फिर किसी के कदमों में बिछकर धूल की तरह पिसते जाओ, तब तक पिसते जाओ जब तक कि

इन रगों में दौड़ने वाले पुरज़ोर कीटाणु पसमुर्दा होकर बैठ न जायँ, जुम्बिश करना बंद न कर दें।

मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूँ, कला और साहित्य से कुछ दूर पड़ जाता हूँ। जिन्दगी में यह खयाल लेकर चला था कि मेरी हवाएँ पूर्व और पश्चिम से उठने वाली हवाओं से मुख्तलिफ होंगी—उनकी मात-हती नहीं करेंगी। लेकिन वह दिन थे कि मेरे अन्तर में यौवन का उन्माद उमड़ा पड़ता था। हर तरफ मुझे किसी की प्यारभरी आँखें झाँकती नज़र आती थीं। खयाल भी न किया था कि डॉक्टर मिस कुकरेजा—जो रोज़-रोज़ मेरे कमरे के सामने से गुजर जाती हैं और इस तरह गुजर जाती हैं—जैसे छत को छूने वाला मैं नौजवान उस कमरे में हूँ ही नहीं—रहता ही नहीं हूँ—मुझे एक ऐसा हीरो बना रही हैं जिसके जीवन की यवनिका एक बार गिरकर फिर उठती ही नहीं। उनकी आँखों में एक नूर था, जिसकी एक किरण कहीं पड़ती तो सिहरन पैदा कर देती। वह पुर-मज़ाक थीं और शायस्तगी से कोई अपनी कुण्ठा उन तक पहुँचा सकता तो वह बुरा न मानतीं, बल्कि प्रसन्न होती थीं। मैं उन्हें देखता और हाथ मसलकर सोचता कि काश मुझे भी मज़ाक करने के हुनर पर कुदरत हासिल हुई होती?

डॉक्टर मिस कुकरेजा का जनून उन दिनों मुझ पर इस तरह सवार हुआ कि मैं रात-दिन कोई अच्छी मज़ाक खोज निकालने में व्यस्त रहने लगा। लेकिन मज़ाक करने की प्रतिभा मुझमें थी ही नहीं। मैंने कमरा बन्द करके मज़ाक खोजी, प्रकृति का सेवन किया, पर मज़ाक मेरे हाथ लगी नहीं। मैं अपने को धिक्कारता और कहता कि मैं अपनी जिन्दगी के प्रति निरा नाबालिग हूँ और मेरी प्रयोगशाला पर लटकने वाला कुल्फ, मेरी सारी जिन्दगी की खुशनुमाई पर लटकने वाला कुल्फ है, जो नहीं खुलेगा—नहीं खुलेगा।

हमारे पड़ोस में एक पार्क है। उन दिनों इस पार्क में बैठना कितना अच्छा लगता था। यहीं बैठकर मिस कुकरेजा की कल्पना करते-करते मैं एक बबूले में फँस गया। सामने के कुञ्ज में कुछ दिन से एक आकृति दिखाई देने लगी थी, जो रोज ही उधर आती थी। मैं अनजाने ही कभी-कभी उस कुञ्ज के चक्कर काट आता था। वह लड़की सफेद साड़ी पहनती थी और ऊपर के हिस्से को शाल से ढके रखती थी। सच तो यह था कि मेरा पार्क में आना और वहाँ से लौटना न जाने कब उस अज्ञातकुलशीला की घड़ी का मोहताज हो गया। वह पार्क से निकलती तो मैं कुछ दूरी पर उसके पीछे-पीछे चलता रहता। चौराहे पर पहुँचकर जब उसके कदम अपने रास्ते की ओर मुड़ जाते तो मैं खड़ा रह जाता और जब वह नज़र से ओझल हो जाती तो एक गहरा साँस मेरे फेफड़ों को निश्चेष्ट करता हुआ बाहर निकल जाता। उस क्षण एक अजीब मायूसी मुझे घेर लेती और अपने बन्द कमरे की बद-नसीबी खलने लगती और चन्द-एक सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँचने का काम मुझे एवरेस्ट की चोटी चढ़ने के समान कठिन प्रतीत होने लगता।

मैं उससे क्या चाहता था? पर कुछ चाहता अवश्य था। तभी तो उसे देखकर एक दिन मैं इस तरह बेइख्तियार हुआ कि उसकी ओर चल पड़ा। उस समय दिल में कुछ सोचा न था। पर निकट पहुँचते-पहुँचते मेरे पैर अवश्य लड़खड़ा गए थे। वह इरादा, जो दिल के किसी कोने में बंद था, बस केवल इतना उभरा कि मैं बेहूदगी से उसका रास्ता काट गया।

मैंने देखा कि वह लड़की पार्क से लौट रही थी। मेरा मन धिक्कार से भर उठा। मैंने स्वीकार किया कि यह क्षुद्र मानसिकता मेरी नीचता थी। अपनी भावनाओं को इतनी भौंडी और कुत्सित अभिव्यक्ति देकर मुझे

विश्वास न हुआ कि मैं एक रिचर्स-स्कालर हूँ और किसी गम्भीर मिशन को अपने दिल में सँभाले हुए हूँ।

इस आत्म-प्रतारणा की प्रतिक्रिया इतनी स्वस्थ थी कि मेरे कदमों में पुनः बल आ गया कि उन तक पहुँचूँ और अपने किये पर खेद प्रकट करूँ। चुनाँचे लपककर मैं उनके निकट पहुँच गया। मैंने कहा, "जरा ठहरिये तो।"

वह झुँझला उठीं। उन्होने शाल को इस तरह झटके से लपेटा कि जैसे मेरे कुत्सित प्रयोजन को चुनौती दी हो। मैंने फिर कहा, "क्षमा कीजिए। आप चाहें तो चलते-चलते भी निवेदन कर दूँगा। दरअसल बड़ी ग़लतफहमी की बात है। एक मिनट–मुनासिब समझें तो-घास पर बैठकर मेरी बात सुन लें। बाद में आप चाहे जो निर्णय करें।"

मेरी ओर बिना देखे ही वह ठहर गईं और घास की ओर बढ़ गईं। एक बार बड़ी अजनबी बेरुखी के साथ उन्होने मेरी ओर देखा और शाल को ठीक तरह लपेटते हुए दोज़ानू होकर बैठ गईं और बोलीं, "कहिए ?"

पर कहने को था क्या ? हाँ मैं अपनी बेअदबी के लिए क्षमा माँगने आया था जरूर, लेकिन मेरी आदर्शवादिता का जनून एक झटके के साथ जड़ से ही उखड़ गया था और मैं सोचने लगा था कि कोई नौजवान किसी खूबसूरत और शानदार लड़की के सामने बैठकर यह नहीं कह सकता कि वह बदतमीज़ है, उसमें शराफत और तहज़ीब नहीं है। मेरे लिए यह कहना और भी मुश्किल हो गया—जब कि वह मेरे नज़दीक बैठी थीं। मेरा दिल कितने सकून से भरा था। और मैं सोचता

रहा, 'आह, वह न जाने कितनी देर उसी तरह बैठी रह सकती थीं। अगर मैं एक भाग्यशाली नौजवान होता और मेरे अन्तर का सारा मैल धुल जाता अगर वह प्यार की नज़र उठाकर मुझे देख लेतीं और फिर चली जातीं, चाहे सदैव के लिए चली जातीं।' पर वह मधुर कल्पना समाप्त हो गई। उन्होंने 'कहिए' का चाबुक मारकर उसे भंग कर दिया। हाँ, तब तक मैंने एक युक्ति का अनुसंधान अवश्य कर लिया था। मैंने कहा, "बात बड़ी अशोभनीय है। मैं कहते हिचकता हूँ और कहने की मजबूरी भी है।"

"जी हाँ, आप कहिए।" उन्होंने फिर दोहराया।

मैंने कहा, "आप कल इधर आई थीं न ?"

उत्तर मिला कि कल भी; परसों भी, और वह रोज़ ही उधर आती हैं और आती भी रहेंगी। किसी के डर-खौफ से आना बंद करने का इरादा भी नहीं है। मैं सतर्क होता तो उनकी भावनाओं में बह जाता और इस तरह अपने उद्देश्य से दूर हट जाता; किन्तु मैंने बात आगे बढ़ाई, "आपने मुझे भी इधर देखा है न ?"

उत्तर मिला कि सिर्फ देखा ही क्यों ? मैं तो उन्हें घर तक छोड़ आने का कष्ट भी करता रहा हूँ, बिना वैसा करने की प्रार्थना किये जाने पर भी।

मैंने कहा, "दरअसल औरतों के दिमाग़ में दोनों तरह की ग़लत-फहमियाँ बहुत जल्दी पैदा हो जाती हैं। प्यार किये जाने के प्रति भी और तिरस्कार किये जाने के प्रति भी। क्षमा कीजिए आपको ही लेकर मेरी 'उन्हें' भी एक संगीन ग़लतफ़हमी हो गई है। वह कहती हैं कि उनका साथ छोड़कर मैंने आपका साथ पकड़ लिया है जब कि मैं जानता हूँ कि आपकी ओर वैसी भावना रखने की कल्पना करना

भी एक गुस्ताखी कही जायगी। आप सोचिए—मैं दोतर्फा ग़लत फ़हमियों का शिकार हो गया हूँ।"

"तो आप उन्हें इधर ले आइए, अपनी ओर से मैं उनकी ग़लतफहमी को दूर कर दूँगी।" और तेजी के साथ वह उठ गईं। युक्ति यद्यपि मुझे अकस्मात् ही सूझ गई थी और अपनी नैतिक सुरक्षा के लिए मैंने बिना परिणाम पर विचार किये ही इस युक्ति का प्रयोग भी कर लिया था, लेकिन मेरी ग़लतफहमी दूर करने की उनकी तत्परता से इतना स्पष्ट था कि वह काल्पनिक प्रेमिका कभी मुझमें विश्वास करे या न करें, पर इनके घोंसले में अपने सींग समाने वाले नहीं।

पर इस युक्ति की सफलता पर मेरा मन उल्लास से भर उठा था। इसी उल्लास में मिस कुकरेजा के साथ किये जाने वाले मज़ाक के अंकुर भी फूट आए थे। और वह मज़ाक जब कि मेरे मस्तिष्क से निकल चुका था, मजबूरी बनकर मुझ पर नाजिल हो गया। पर मैं सोचता यह था कि वे जो प्रेम करते हैं—खामखाँ अपने और बेगानों के प्रति इतने बेतकल्लुफ़ क्यों हो जाते हैं। मिस डॉक्टर कुकरेजा से एक बार आँखें चार भी नहीं हुई थीं, आज उन्हीं को अपनी प्रेमिका कहकर मज़ाक करने में, और एक दूसरे अपरिचित व्यक्ति को उसका साधन बनाने में जरा भी हिचक मुझे नहीं हुई। मुझे आश्चर्य यह था कि वह इस मज़ाक में यानी ग़लत काम में इतनी उत्सुकता से हाथ बटाने के लिए तैयार किस तरह हो गई थीं। अगले दिन 'वह' आईं तो उन्हें डॉक्टर मिस कुकरेजा के पास भेजने पर मजबूर होना पड़ा और उसके भयंकर परिणाम पर मेरा ध्यान उस समय गया जब कि तीर तरकश से निकल चुका था। घबराकर मैं बाज़ार की ओर खिसक गया था और लौटा तब था जब कि डॉक्टर मिस कुकरेजा की बत्ती बुझ चुकी थी।

शाम को जब मैं पार्क में गया तो देखा कि वह बैठी थीं। प्रातः-काल की घटना का आतंक मुझ पर इस तरह छाया था कि मैं उनकी उपेक्षा करके आगे बढ़ने लगा। लेकिन उन्होंने मुझे रोक ही दिया और बोलीं, "मुझपर कल बुरी बीती। उन्होंने मेरी बात तक भी नहीं सुनी और इस प्रकार बरस पड़ीं कि बस........।"

मैंने कहा कि मैं किन शब्दों में आपको धन्यवाद करूँ। आपने औचित्य की सीमा को पार करके भी मेरी सहायता करनी चाही। पर आप मेरी किस्मत कैसे बदल सकती थीं।" गरदन नीची करके मैं फिर चलने को हुआ। उन्होंने फिर कहा, "तो अब क्या इरादे हैं आपके। कहीं आत्म-हत्या तो नहीं.....।"

देखा कि उनके चेहरे पर सरल विनोद था। मैंने कहा, "प्रेम करना क्या आप आत्म-हत्या से कुछ कम जिम्मेदारी का काम समझती हैं ?"

अबकी बार वह खिलखिला उठी थीं। बोलीं "मुझे बेहद अफ-सोस है कि प्रेम के बारे में आपकी धारणाएँ उद्भ्रान्त हो उठी हैं। दुनिया में कुछ लोग हैं जो स्वार्थ की परिधि से ऊपर उठकर प्रेम करते हैं। लेकिन उन्हें न इतनी जल्दी प्रेम होता है और न इतनी शीघ्र गलत-फहमी ! क्षमा कीजिए—अपरिचित के प्रति उचित आदर की भावना रखते हुए भी—मैं यही कहूँगी कि आपकी मित्र खूबसूरत हैं—पर कुछ यों ही हैं।"

"हो सकता है," मैंने कहा "मैं प्रेम के मामलों को अधिक समझता नहीं हूँ। मैं रसायनों की दुनिया में जीने वाला आदमी—इन्सान की परख में भूल करना मेरे लिए मामूली-सी बात है।"

"क्या आप कहीं केमिस्ट हैं।" उन्होंने पूछा।

मैंने कहा, "सरकार की तरफ से मैं शीशे पर रिसर्च कर रहा हूँ।"

"ओहो, तब तो एक खास आदमी हैं" उन्होंने उत्सुकता से कहा, "क्षमा करें मेरी वजह से आपको बहुत बड़ा आघात पहुँचा।"

"चलिए जो भी हुआ, अच्छा हुआ।" मैंने बात टालते हुए कहा, "वैज्ञानिकों की दुनिया वैसे ही कौन रंगीन होती है।"

" आप बनावटी बातें कर रहे हैं।" उन्होंने मेरी बात से असहमत होते हुए कहा, "विज्ञान में जो रस है वह कला और साहित्य के रस मे कम रंगीन नहीं है। मैंने भी अपने प्रारम्भिक शिक्षा-क्रम में विज्ञान रखा था और उसके रस का आस्वादन किया है। लेकिन वह अक्ल वालों का विषय है, साधना अधिक मांगता है, मैंने आगे चलकर इतिहास ले लिया।"

मैंने कहा कि "तभी उनकी सब बातें ऐतिहासिक होती हैं' तो उत्तर मिला कि उनकी बातें ऐतिहासिक नहीं, वैज्ञानिक भले ही मान ली जायँ, हाँ मेरे-जैसे वैज्ञानिक के कारनामे अवश्य ऐतिहासिक हो सकते हैं।"

उनकी इस हार्दिक और प्रगल्भ वार्ता से मेरा मन एक रोमानी पुलक से भर उठा। उस दिन वह रूस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉक्टर पावलोव पर बनी फिल्म देखने के लिए भी तैयार हो गईं। उस दिन पहली बार मेरे विचार वैज्ञानिकता की ओर से अध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होते हुए दिखाई दिए। मैं सोचता रहा, 'जिस प्रकार एक रंग में अनेक रंगों का वास होता है उसी प्रकार एक आत्मा में अनेक आत्माओं का सन्निवास हो सकता होगा। तो फिर कोई आदमी दूसरे आदमी से बेगाना और अपरिचित नहीं हो सकता, यदि जुदाई के अवसर बीच में से हटा दिये जायँ।

मैं आज घर लौटा तो डॉक्टर कुकरेजा अकस्मात् मेरे कमरे में आ पहुँचीं। उनकी मुद्रा उसी प्रकार खिली हुई थी, पर आज उनकी नज़र के नूर से मुझमें सिहरन नहीं हुई। मिस कुकरेजा बोलीं, "आप भी कितनी भयानक मजाक करते हैं। देखने में तो जादूगर से मालूम होते हैं, पर इतनी तगड़ी मज़ाक करते होंगे, कभी यकीन न किया था। मुझे अफसोस है कि मैं उस लड़की से ठीक तरह पेश न आ सकी। आप उससे मेरी तरफ से माफी माँग लें। या फिर आप दोनों का मेरे यहाँ निमन्त्रण रहा, बाकी मैं ठीक कर लूँगी।"

निमंत्रण के लिए मैंने 'हाँ' अवश्य कर ली थी पर 'हाँ' से आगे किसी रचनात्मक विचार को उत्तेजन नहीं दिया था मिस कुकरेजा के मन और मुद्रा में मैल नहीं था। घर वह चली गईं तो मैं सोचता रहा, "डॉक्टर मिस कुकरेजा की नज़र का वह नूर क्या हुआ जिसके लिए मेरा मन तड़प-तड़प उठता था।

आज वह नियत समय पर फिल्म देखने आ पहुँची थीं, आज का उनका अन्दाज नया था। उनकी देह पर से शाल उतरा हुआ था, लगता था जैसे कोहरा उठ गया है। और जो-कुछ जहाँ है पूरी ऊँचाई और खूबसूरती के साथ नुमायाँ हो गया है। सचमुच आज के दिन जैसे मेरी जिन्दगी की पहली सुबह हुई थी और दुर्भाग्य का वह मनहूस कोहरा, जो इतने बड़े जीवन-सौंदर्य को ढके था, आज सहसा विदीर्ण हो उठा था।

वह निस्संकोच मेरे पास चली आई थीं। वह अपनत्व से उनका नाम लेकर पुकारना चाहता था, पर याद आया कि अब तक नाम जानने का अवसर ही नहीं आया। वह अपने साथ अपनी एक मित्र को भी लाई थीं और उनके रूप-गुण की प्रशंसा करते हुए उन्हें अपनी बड़ी अन्तरंग

मित्र भी बतलाया था। उनसे मिलकर जितनी खुशी जाहिर करनी संभव थी, मैंने की थी, लेकिन वह केवल शिष्टाचार ही था। और फिल्म देखते-देखते मेरा हाथ जिस तरह उनके हाथ पर रखा गया था और उसने एक बार हिलाकर जिस तरह पूरे विश्वास के हाथ उसे वहीं रहने दिया था, उसे भी मैंने शिष्टाचार ही समझा था। पिक्चर देखने के बाद भी उन दोनों को अपने यहाँ चाय पर निमंत्रित कर दिया था, यह भी शिष्टाचार ही था। मालती से मेरा परिचय शिष्टाचार ही था।

अगले दिन प्रातःकाल जब मैं नींद की खुमारी तोड़ रहा था तो मिस मालती मेरे कमरे में दाखिल हुई। मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं थी। मैं उनके स्वागत में एक भी शब्द अथवा भावना प्रकट न कर सका। केवल कह सका कि "आप ?" वह बड़ी बेतकल्लुफी से अन्दर आ गई थीं और कुछ दूरी पर मेरे ही बिस्तर पर बैठ गई थीं। बोलीं —"कमरे की व्यवस्था बड़ी उलट-पुलट है। आप कोई नौकर क्यों नहीं रखते।"

"जी, मुझे खयाल था कि आप लोग आयँगी तो पहले सूचित अवश्य करेंगी। तभी थोड़ी व्यवस्था कर लूँगा। आजकल छुट्टियाँ हैं। किसी की सहायता की वैसे ही जरूरत नहीं पड़ती।"

उन्होंने कहा, "मैं भी आजकल खाली हूँ। आप छुट्टियों के दिनों के लिए मुझे नौकर रख लीजिए ?"

इस बात में तथ्य क्या हो सकता था। उनका मात्र-सौजन्य था, क्योंकि उनके देखने का अन्दाज यह बतलाता था कि वह काम करने की नहीं सौंपने की आदी भले ही हों। मैंने बिस्तर छोड़ दिया था और कहा, "आप मुझ गरीब आदमी को लज्जित करती हैं। मैंने ये सोचा

था कि आप लोग आयेंगी तो कोई एक सूचित अवश्य करेंगी। खुद ही इस ऊबड़-खाबड़ जीवन को थोड़ा सँवार लूँगा। पर यह सर्प्राइज विज़िट आप···दरअसल में क्या कहूँ··· कहना चाहिए कि आप बहुत अच्छी हैं। इतनी इन्फार्मेलिटी से आपस की दूरी कितनी जल्दी समाप्त हो जाती है। आप एक मिनट ठहरें, मैं नीचे चाय की व्यवस्था करता हूँ।"

लेकिन उन्होंने मुझे वैसा नहीं करने दिया। परन् मुझे शीघ्र तैयार होकर अपने साथ चलने और साथ ही कलेवा ग्रहण करने पर भी मजबूर कर दिया। उनके शब्दों की अदायगी में इतना बल था, मीठी मुसकान में कुछ ऐसी तरह थी और उनके आगमन से वह बद-नसीब कमरा यौवन की सुगन्ध से इस प्रकार भर उठा था कि मैं यन्त्र-चालित-सा उनके आदेशों का पालन करता गया।

उस दिन विदा लेकर मैं चलने लगा तो मैंने मालती से पूछा, "सच बतलाइए? क्या आपकी मित्र ने बहुत बढ़ा-चढ़ाकर मेरी प्रशंसा की थी, आपने मेरे प्रति इतनी भावना दिखलाई।" तो मालती ने लापरवाही के साथ कहा, "आप शारदा की बातें करते हैं। उसने मुझसे जो कहा उसे सुनियेगा तो पसीना आ जायगा। वह सदा से ही ऐसी है—कुछ दार्शनिक-सी।"

"फिर भी बताइए तो" मैंने पूछा, "आपने जो आदर किया है, उनके द्वारा किये गए अपमान से वह पूरा भी हुआ तो जमा-खर्च करके मैं घर के घर तो रह जाऊँगा ही।" तो वह बोली, "कहती थी कि एक क्रैंक मेरे पीछे पड़ गया है। आदमी वैसे दिलचस्प मालूम देता है और आज पिक्चर देखने भी बुलाया है। मुझे भी साथ-साथ ले आई। पहले तो मुझे भी दिलचस्पी हुई थी कि आपको बनाया

जाय। पर मुझे लगा कि शारदा आपको समझ नहीं सकी। आप उसकी बातों का खयाल न कीजिएगा ?"

पर खयाल मुझे अवश्य पैदा हो गया था। कोई लड़की आपको क्रैंक समझे और आपको मन में खयाल तक न हो, यह भला कभी मुमकिन है। मालती मुझे कुछ दूर छोड़कर और अगले दिन का निमन्त्रण देकर लौट गई थी। मेरे मस्तिष्क में वह रिमार्क घूमता ही रहा। शारदा शाल से ढकी और ऊषा की तरह प्रखर दोनों रूपों में रह-रहकर मेरी आँखों के सामने घूमने लगी, वही शारदा जो मुझे क्रैंक समझती है और मुझे बनाने के लिए एक मित्र को भी साथ ला सकती है।

वह सारा दिन बेचैनी में गुजरा। मैं शारदा को देखना चाहता था, न जाने बेचैनी इतनी क्यों थी ? शारदा का विचार मेरे बारे में वैसा था, तो उसमें अस्वाभाविक क्या था ! हर आदमी गलत हो या सही, अपने स्वतन्त्र विचार बनाने में स्वाधीन है। और शायद इसी-लिए यह दुनिया भी इतनी दिलचस्प है। न सही शारदा, मालती ने तो उसके गुणों को पहचान लिया था, पर इस आत्म-संतोष के बाद भी वह रिमार्क तीर की तरह मेरे मन में चुभता ही रहा। सचमुच यह सब इस तरह से घटित हो रहा था कि जैसे वैज्ञानिक के प्रयोग-पात्र में हर चीज़ अपना असर लेकर एक नये पदार्थ की सृष्टि करती हुई अपने गुण-कर्म से अतीत-मात्र एक ऐसा द्रव रह जाती है जिसका जैसे रासा-यनिक प्रक्रिया में कोई महत्त्व ही न हो। डॉक्टर मिस कुकरेजा की मजाक से शुरू होकर यह सरिणी इस तरह तेजी के साथ अपना पथ बदल रही थी, जैसे मैं उसका नियन्ता नहीं, अनुगामी-मात्र हूँ।

दो दिन बाद मालती मिली तो उसी से पता चला कि शारदा बीमार है और उसने मुझसे न मिल सकने की असमर्थता पर खेद

प्रकट किया है। मालती ने कहा कि यदि मैं उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करना चाहूँ तो वह मुझे अपने साथ वहाँ ले जा सकती हैं।

हम जिस समय शारदा के यहाँ पहुँचे तो वह लेटी हुई थी। हमें देखकर वह बोली नहीं, उठ बैठी; पर उसकी आँखे बोल रही थीं। उन आखों के अव्यक्त स्वर को सुनकर मेरा मन आनन्द से भर गया था और और मैं सोचने लगा था, आखिर वह कैसी भाषा है जिसका ज्ञान बिना पढ़े ही हर इन्सान को एक दिन हो ही जाता है और जिसे पढ़कर दूर के अजनबी और बेगाने भी उनके भावनापूर्ण सम्बोधन पाते हैं।

उस दिन शारदा को छोड़कर जाने का दिल नहीं होता था, पर मालती साथ लाई थी तो साथ ही लेकर जाने का उसका अधिकार भी जैसे स्वयं-सिद्ध था। हम दोनों उठकर बाहर आ गए। मैं चुप हो गया और अपने ही जीवन के अनेक पहलुओं में इस तरह उलझ गया था कि मालती के साहचर्य से भी बेखबर ? मालती बोली, "बड़े गुम-सुम रहते हैं ? क्या शारदा की दार्शनिकता आप पर भी असर करती जा रही है ?"

मालती का सुन्दर कमनीय हाथ मेरे कन्धे पर आ गया था और कानों और कपोलों को एक साथ छू रहा था। मेरे अन्तर की समस्त चेतना और चिन्तना उस स्पर्श को पाकर ठहर गई थी। मैं बोला—"मालती, इतनी जल्दी मेरे कन्धे का सहारा लेती हो। निश्चय करने से पहले अच्छी तरह सोचा भी नहीं ?"

वह बोली, "आपका सहारा लूँगी तो आप नहीं देंगे। आप मुझे अच्छे और विश्वसनीय न लगते तो क्या यह हाथ आपके कन्धे तक पहुँच सकता।" इसके बाद उसने अपनी देह का भार इस तरह मेरे कन्धे पर डाल दिया था कि वह जमीन पर होते हुए भी जैसे मेरे कन्धों पर ही चल रही थी।

मैंने कहा, "मालती इस प्रकार चलोगी तो तुम्हारी कोठी का रास्ता बहुत लम्बा हो जायगा और हमारी मंजिल दूर पड़ जायगी।" वह अकस्मात् बोली, "तो फिर अपने कमरे पर चलिए। मैं हाथ हटा लेती हूं। वह मंजिल अच्छी जो जल्दी आ जाय, क्यों?" और वह सामने मुड़कर खड़ी हो गई।

अब हम कमरे की ओर लौट पड़े थे। आपका स्थान चाहे जितनी दूर हो, उतने शीघ्र पकड़ में आ जाता है, यह मुझे पहली बार विश्वास हुआ। शाम बीत चुकी थी और नगर की सड़कें अपनी खामोश आँखें टिमटिमाने लगी थीं। हमने अपना कमरा खोल लिया था और वह बिजली के प्रकाश से खिल उठा था। मालती ने पलक मारते-मारते अस्त-व्यस्तता समाप्त कर दी थी। अपना ओवर कोट कोच पर फेंकते हुए वह ढीली होकर फैल गई थी। मैंने पूछा, "क्या खाओगी?" तो मालती कोहनी के बल सीधी होती हुई बोली, "कितने भूखे हो तुम, इतना हैवी लंच लेने के बाद भी अब और खाने की जरूरत रह जाती है।"

सचमुच खाने का भारीपन, पैदल चलने की थकान, इस अभागे कमरे की बंद चिटखनी, यह सब ऐसा माहौल था कि खाना पूछने की बात मुझे स्वयं बड़ी भौंड़ी लगी। मैंने कहा कि थकान का नशा मुझ पर इस तरह सवार है कि मैं तुम्हे वापस पहुँचाने की हिम्मत भी अपने में नहीं पाता।"

"लेकिन यहाँ से लौटना जरूर है।" मालती ने कहा।

मुझे लगा कि मैंने एक और नासमझी की बात कह डाली है और उसके प्रतिकार के लिए मैंने तुरंत कहा, "तुम समझती हो कि मैं इतना भी नहीं समझता?"

"मुझे क्या मालूम ! मैं आपके मुँह से निकले शब्दों के द्वारा ही आपके मन्तव्य तक पहुँच सकती थी। आपका मतलब था कि आज रात आप मुझे इस कमरे से वापस पहुँचाने की इच्छा नहीं रखते।" और वह कनखियों से मेरी ओर देखती हुई दूसरी ओर करवट बदलकर लेट रही और मैं जितना उससे दूर भाग रहा था उतना ही उसकी ओर खिंचता जाता था और कमरे में इधर-से-उधर चक्कर लगा रहा था। मालती फिर बोली, "कहते हैं कि थक गया हूँ। और आधे घण्टे से कमरे में चक्कर लगा रहे हैं ? आदमी के बनने की भी कोई आखिर सीमा होती है।"

सचमुच-मेरेजैसा विज्ञान-विचक्षु अपने ही कमरे में उस मधु-मक्खी की तरह भटक गया था जो अपने छत्ते से भटककर भिन-भिना रही हो। अब मैं मालती के निकट ही बैठ गया था और मालती के दोनों पैर मेरे पैरों पर से होते हुए कोच के दूसरे हत्थे तक चले गए थे। मुझे सर्दी उत्तरोत्तर लगती जा रही थी और कुछ देर बाद तो कम्पन शुरू हो गया था। मैंने कहा, "मालती, मैं जरा शाल उठा लूँ, सर्दी बढ़ रही है।"

"उँह सर्दी ? तो ओवरकोट 'पैरों पर डाल लो।" मालती ने उत्तर दिया। मैंने देखा कि मालती की आँखें बदल गई हैं, जैसे किसी चित्र-कार ने अपने चित्र की दृष्टि छीनकर उसे दिव्यचक्षु बना दिया हो। मालती बोली, " तुम्हें कम्पन क्यों होता है ?" मैंने उस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। मुझे स्वयं आश्चर्य था कि कुछ देर पहले कान इतने गर्म थे कि कपड़े निकालकर फेंकने को जी चाहता था। और अब दिल उछल-उछल पड़ता है। लेकिन मालती मेरी खामोशी से ऊब चुकी थी। बैठते हुए बोली, "तुम इतने चुप क्यों हो। और उसका सारा शरीर कमान की तरह खिंचता हुआ मेरे दिल के बिलकुल निकट आ गया

था—जहाँ अब भी जोरों से हड़कम्प जारी था। उसने अपना कान मेरे सीने पर टिका दिया और बोली, "तुम्हारे होंठ बंद रहें! लेकिन मैं तुम्हारे दिल की आवाज सुन लूँगी?"

उसके गर्म स्पर्श से एक सुगन्ध छूट रही थी और मेरे हृदय का कम्पन जैसे उसने पकड़ लिया था। उस क्षण उसके सुन्दर मुख-मण्डल को मैंने अपनी हथेलियों में ले लिया था। अब मैं प्रभात नहीं था, मानव भी नहीं स्वयं मनु बन चुका था, उद्दाम पौरुष का पुञ्ज जिसके एक अणु से सृष्टि बीज बनी होती है।

फिर जो-कुछ हुआ इतना जानता हूँ कि वह मेरी कल्पना का विषय कभी नहीं रहा। मैं जैसे चेतना-हीन होकर किसी समुद्र में डूबा था और अब निकला था तो प्रतीत होता था कि चारों ओर अंधकार छाया हुआ है और मैं अब भी जैसे डूबा हो हूँ।

मालती की कोठी से लौटते-लौटते मैं पुनः प्रभात हो गया था। चारों ओर की दुनिया बे-जान की तरह रात की तारीकी और बेबसी को ढोती नज़र आती थी और मेरे दिल के कोने में सैलाब के उतरने के बाद उभरने वाले खुश्क-बंजर बालू के कुरूप छीलर नज़र आने लगते थे। मैं सोचता था, "सैलाब, जो विनाश का प्रतीक होता है, फिर भी कितना अल्हड़ होता है, गति और शक्ति का कितना विराट पुँज और जब वह उतर जाता है तो जैसे अनेक मौतों से युक्त श्मशान वातावरण पर छा जाता है, और सचमुच मेरे मन में मालती के प्रति कहीं खीझ पैदा होती जा रही थी। उस समय मेरी हालत सैलाब में बहे हुए उस पशु के समान थी जो बच गया है, पर जो एक कदम भी उठकर नहीं चल सकता। मालती से मुझे वह मिला था जिसे शायद जीवन का प्रेय मैंने समझा था और पाकर भी यह नफरत का जज़्बा? समझ में नहीं आता

था कि जो अभी हुआ था वह अपने इम्पल्स के सामने मेरी पराजय थी या अब मेरी अकृतज्ञता ?

प्रातःकाल मिस कुकरेजा कमरे में आ गई। इस दुरंगी दुनिया में अपनी शानदार मुस्कराहट को किसी तरह कायम रखने वाली उस डॉक्टर के लिए मेरे मन में आज एक विशेष आदर की भावना थी। वह बोली, "कहिए आपकी 'उन्होंने' हमें माफ किया कि नहीं ?"

उन्होंने फिर वही जख्म छेड़ दिया था। मैंने टालते हुए कहा; "डॉक्टर आप इस घटना को याद करके कतई पश्चात्ताप न करें। वह लड़की मुझे राह चलते ही मिल गई थी। मेरी तरह आप भी उसे भूल जाइए।"

पर डॉक्टर ने बड़ी बुर्दबारी से कहा कि प्रेम करना मज़ाक नहीं है। बड़े भारी उत्तरदायित्व का काम है। जिसका हाथ आदमी एक बार पकड़े उसे आखीर तक निभाना चाहिए और मेरी उत्सुकता को बढ़ते देखकर उन्होंने अपने एक पेशंट की कहानी शुरू कर दी थी जिसका लुब्बो-लुबाब यह था कि आजकल के नौजवान बड़े बुलंद इरादों से मिलते हैं और आगे चलकर अपनी ही असावधानी से काँटों में फँस जाते हैं। उस लड़की के माँ-बाप अपनी लड़की के प्रेमी को हवालात में भिजवाकर लड़की का जीवन और अपने वंश की इज्जत-आबरू बचाने की दवा लेने उनके पास आए थे। और उन्होंने उन्हें फटकारकर बाहर निकाल दिया था। आवेश में आकर अपनी कहानी को खत्म करते हुए वह बोली "लेकिन प्रभात बाबू? इस देश में कितने डॉक्टर हैं जो अपने पेशे के उत्तरदायित्व को समझते हैं ?" और फिर वह चली गई थी। उस समय मेरी हालत उस मरीज़-जैसी थी जिसे अभी-अभी कोई डॉक्टर ला-इलाज बताकर लौट गया है।

शाम को उस दिन पार्क में शारदा मिल गई। बीमारी के बाद आज वह पहली बार इधर आई थी। वह अपने बीमारी के क्षणों की मनःस्थिति की चर्चा करती रही। और यह भी कि मैं भी कभी-कभी उसके स्वप्नों में आता था। वह मेरे परिवार के हर सदस्य का नाम योग्यता और पसंद, मेरी रिसर्च की स्थिति और थीसिस लिखने के बाद क्या कुछ करने के इरादे के बारे में इतने विस्तार से पूछती रही कि शाम बड़ी जल्दी बीत गई। जब हम चलने लगे और अपनी लैबोरेटरी दिखलाने की बात जब मैंने उससे कही तो इतनी फीकी-सी लगी कि जैसे वह केवल चापलूसी हो।

लेकिन इतनी अभ्यर्थना भी मैं उसकी कर नहीं सका। क्योंकि जिस दिन शारदा को लेबोरेटरी दिखाने का निश्चय किया था, उसी दिन मालती उधर आ गई। उसका आना और मुझे साथ ले जाना इस प्रकार हुआ कि जैसे कोई बाज चिड़ियों में आए और एक को पंजों में दबाकर उड़ जाएं लेबोरेटरी से निकलकर उसने कहा था, "मोटर आज आप चलायँगे।" और मैंने कहा था कि मोटर चलाना मैं नहीं जानता। तो उसने गाड़ी को सर्राटे के साथ दूर जंगल की ओर छोड़ते हुए कहा था, "आज से आपका गाड़ी चलाना सीखना शुरू।"

बस्ती से दूर निकालकर मालती ने गाड़ी की रफ़्तार धीमी कर दी और मुझे स्टेयरिंग पर बैठा दिया और आप मेरे दोनों कन्धों पर बाहें डालकर गाड़ी के कल-पुर्जे बताते हुए मुझे गाड़ी हाँकने की शिक्षा देने लगी।

इस आंदोलन में शारदा की दुनिया फिर भूल गई थी। मालती की खुशबूदार मुलायम अलकें मेरे कानों पर झूल रही थीं और गाड़ी इस तरह कांप रही थी जैसे मालती के प्रथम मिलन के क्षणों में मेरा दिल

काँप रहा था। सहसा मैंने जोर से ब्रेक दबा दिया और गाड़ी चीखकर धूल उड़ाती हुई रुक गई। मालती लुढ़ककर मेरी गोद में आ गई थी वह स्थान शहर से दूर एक निर्जन प्रान्त में था। साँझ की अँधियारी घिर आई थी और पास के वृक्षों में बैठे पक्षी बुरी तरह चहचहा रहे थे और उसमें हमारी तेजी से चलने वाली साँसें खो गई थीं।

मैंने मालती से पूछा था, "मालती जिस तूफानी गति से हमारा एकात्मकार हो रहा है, उसकी तह में क्या हमारा पार्थिव सम्मिलन ही सब-कुछ है? तुमने पहली ही भेंट के बाद जिस विश्वास के साथ मुझे अंगीकार किया, उसे क्या समझूँ, आत्मा का परिणय या शरीर की भूख?"

मालती ने उत्तर दिया था, "शरीर में त्राण पाने वाली आत्मा ही इस शरीर की पार्थिवता को स्पन्दनशील करती है। हमारे सामाजिक जीवन का प्रधान गुण आत्म-परिणय ही नहीं है। यह पुराने जमाने की घिसी हुई बातें हैं जो एक वैज्ञानिक को शोभा नहीं देतीं।"

मैंने कहा था कि जिस प्रकार हमारा चिन्तन प्राचीन की पृष्ठभूमि को लेकर गतिवान होता है उसी प्रकार नई परम्पराएँ भी प्राचीन की आधार भित्ति के सहारे अस्तित्व में आती हैं। नई परम्पराएँ कायम करना बुरी बात नहीं। लेकिन हमारा कोई आचरण ऐसा क्यों हो कि सामाजिक परम्पराओं के निर्माण करने के मार्ग से हटकर हमें आत्मरक्षा पर ही समस्त शक्तियों का अपव्यय करना पड़े।"

लेकिन मालती के परिग्रहण और समर्पण में दुस्साहस की मात्रा असाधारण थी। वह मस्ती के साथ मेरी बाँह पकड़कर मुझे कार से बाहर खींचकर बाहर ले आई थी और कह रही थी, "प्रभात, मिस्टर

जहाँ दो आदमी साबित कदम होकर मिलते हैं वहाँ नई परम्पराएँ स्वयमेव जन्म लेती हैं।"

मालती का वह उन्मुक्त चिन्तन, खुले गौर स्कन्ध और कमान की तरह खिंची हुई भौंहें सब मिलाकर एक ऐसा कवच था, जिस पर इन्सान का पार पाना मुश्किल था और मैं तो जैसे अपराधी की तरह पकड़ लिया गया था।

उस दिन हम लौटे तो मैं उस शराबी की तरह बेहाल था जिसका नशा उतर गया हो। आज डॉक्टर कुकरेजा की मुसकराती आँखें मुझे अपने सामने देखती नज़र आ रहीं थीं और मैं सचमुच जैसे काँटों में फँस गया था।

बीते कल को मैंने शारदा की अवज्ञा की थी और शारदा को मालूम हो गया था कि उस अवज्ञा के लिए मैं स्पष्टतः उत्तरदायी था क्योंकि मैं मालती के साथ चला गया था। शारदा अगले दिन भी नियत समय पर लैबोरेटरी में आई। पर उसकी मुखाकृति पर कोई उद्वेग या स्पर्धा नहीं थी। मैंने अपनी प्रयोगशाला उसे दिखलाई और उस दिन देर तक हम साथ रहे। शारदा आज पहली बार मेरे स्थान पर आई थी और इस तरह बैठी रही जैसे कोई कोयलों की कोठरी में बैठा हो। उसने कल की घटना का स्मरण कराते हुए पूछा था कि मुझे मालती कैसी लगी? मैंने कहा था कि उनकी मित्र हैं, बहुत अच्छी तो हैं ही, पर हमारे-जैसे लोगों के लिए, जिनके दिमाग़ में कुछ खास काम कर गुज़रने का फितूर है, उनकी गति बहुत तेज है?"

"क्यों आप जीवन में रोमांस के पैरोकार नहीं हैं।" मालती ने व्यंगपूर्वक कहा था, "सुना जाता है कि वैज्ञानिकों और कवियों-

कलाकारों को मालती-सरीखी लड़कियाँ मिलती रहें तो उनकी सृजन-शक्तियों को काफी प्रेरणा मिलती है।"

मैं चुपचाप सोचता रहा कि क्या सचमुच मालती से मुझे कोई प्रेरणा मिली है, पर मन मेरा उलझ गया। शारदा ने फिर पूछा, "कल कहाँ ले गई थी आपको ?"

मैंने कहा कि ले जाना चाहती थी, परन्तु मैं जा नहीं सका।

"क्यों नहीं जा सके, आश्चर्य होता है।" शारदा ने अविश्वास प्रकट किया, पर वह आगे बोली नहीं, चुप हो गई। उस समय मेरा मन होता था कि शारदा के समक्ष अपना अपराध स्वीकार करके मन हल्का कर लूँ ? पर यह मजबूरी टल सकती थी, इसलिए टल गई। शारदा ने अब पुनः मेरी रिसर्च की स्थिति के बारे में पूछ-ताछ करनी आरम्भ कर दी थी, जिसे वह गए दिन अच्छी तरह जान चुकी थी। मैंने अवसर देखकर पुनः चर्चा आरम्भ कर दी। मैंने कहा, "शारदा, मैं मालती के साथ इसलिए नहीं जाना चाहता था, क्योंकि उससे पहले तुम मुझे मिली थीं।"

शारदा ने कहा था कि मैं सब बेसिर-पैर की बातें करता हूँ और यह भी कि आगे-पीछे मिलने से किसी के अधिकार और रुचि में अन्तर नहीं पड़ता। मैंने फिर कहा था, "शारदा, तुम्हें मालूम है कि पहले दिन की वह भूल मुझसे अनजाने में ही नहीं हुई थी। यह मानता हूँ कि वह मेरे एकान्त क्षणों के चिन्तन की कुरूप अभिव्यक्ति थी, आज उसके लिए क्षमा माँगता हूँ।" और शारदा ने कहा था कि उसे उस दिन ही उस षड्यन्त्र का पता था। "और फिर भी

तुमने मुझे क्रैंक कहा," मैंने कहा था, "जब कि तुम जानती हो कि इस समाज ने हमें अपनी सच्ची अभिलाषाएँ भी प्रकट करने की आज़ादी नहीं दी है और हम कुत्ते-बिल्लियों की तरह चेष्टाएँ बनाकर उनका इज़हार करने पर मजबूर होते हैं ?"

शारदा ने कहा था, "मैं समाज के साथ व्यक्ति को भी सर्वथा निर्दोष मानकर नहीं चलती। पर मालती ने अगर आपसे यह कहा तो सर्वथा गलत कहा। वह मेरी बचपन की मित्र है और उस दिन उसको पिक्चर देखने के लिए साथ लाने का उद्देश्य केवल यही था कि मेरी पसंद पर मेरी मित्र की पसंद की भी मुहर लग जाय। पहले दिन की आपकी उस हरकत पर मुझे बेहद अफसोस हुआ था। पर मैं घर गई तो बार-बार आपके उस आचरण को याद करके हँसी आती रही। सचमुच आपने किस चतुराई से मेरा रास्ता रोक लिया था। मैं स्वयमेव अपने विरुद्ध किये गए उस षड्यन्त्र का एक अङ्ग बनती गई। पर न जाने क्या कुछ हुआ कि मैं अपने को रोक नहीं सकी।"

शारदा की उन बातों को सुनकर मेरा रोम-रोम एक अनिर्वचनीय आनन्द से भर उठा था। हम विदा हुए तो शारदा ने पूरी तन्मयता के साथ अपना काम समाप्त कर लेने की बात मुझसे कही थी और तब तक के लिए उसे भूल जाने का इसरार भी किया था। मैंने कहा था, "शारदा, तुम्हारे चारों ओर बुने गए सपनों की मिठास के सहारे मैं वियोग की इस व्यथा को सहन कर लूँगा, पर क्या तुम अपने प्रेम का कोई साक्ष्य मेरे पास न छोड़ोगी।"

तो शारदा ने कहा था, "छोड़ूँगी, सब-कुछ तो छोड़े जा रही हूँ।" और मैंने व्यंग्य में कहा था, "शारदा तुम्हें देखकर प्राचीन काल

की ऋषि-कन्याओं की याद ताजा हो जाती है, पर इतनी पूतप्रेय तो शायद वह भी न रही होंगी ?"

तो शारदा ने भी हँसी में ही कहा था कि मैं भी बातचीत करने में पहले कम फूहड़ नहीं था। अब मालती से सीखकर कुछ चतुराई बताने लगा हूँ। चलते-चलते बात फिर दुर्भाग्य के गर्त में जा गिरी थी। मालती के प्रसंग पर शारदा के सम्मुख मन न जाने क्यों सिहर-सा उठता था। मैंने कहा, "शारदा, मालती का अधिकार मुझ पर तुम्हीं ने स्थापित किया था, तुम यह क्यों भूल जाती हो ?"

"भूलती नहीं हूँ" शारदा ने उत्तर दिया था, "आज तो रह-रहकर उस क्षण की याद आती है। मालती मेरी मित्र है पर हम प्रत्येक मित्र के आदर्श पसंद नहीं करते। जो मेरी मान्यता है, मालती उसे नहीं मानती। वह बन्धन-हीन प्रेम की पुजारिन है। मैंने उससे सदैव यही कहा कि प्रेम करने में यदि कोई सामाजिक दायित्व भी है तो वह बन्धनयुक्त भले ही हो, माधुर्य उसमें भी कम नहीं है। आत्म संयम से माधुर्य कभी घटेगा नहीं। अनियन्त्रित प्रेम और नियन्त्रित सामाजिक प्रबन्ध एक ही अर्थ की दो भाषाएँ हैं। जो अपने जीवन में नई परम्पराएँ कायम करने का अरमान लेकर चलते हैं—मैं नहीं समझती—वे इस मान्यता से कैसे इन्कार कर सकते हैं। पर मालती इस मान्यता से इन्कार करती है।"

और फिर एक भयानक उदासी उसके मुख पर छा गई थी। उसकी याद करके आज भी मन में अकुलाहट होती है। उस दिन से मैं तन्मयता से अपने काम में लग गया था। मालती भी कई दिन से इधर नहीं आई थी। मैं मन-ही-मन मनौतियाँ मनाता कि मालती का उन्मुक्त मानस कहीं और बसेरा खोज ले, मुझे शारदा चाहिए और

शारदा को लेकर ही मैं अपनी मंजिल तक पहुँच सकता हूँ।

कि सहसा एक दिन मालती फिर आ गई। आज उसका मुँह जैसे मुरझाई कली हो। उसे देखकर एक अज्ञात भय की सिहरन मेरे शरीर में दौड़ गई। बोली, "प्रभात बाबू, कृपा करके डॉक्टर कुकरेजा को बुलवा लीजिए?"

मेरा कलेजा धक्-धक् करने लगा था। क्योंकि मुझे विश्वास था कि अगर मालती को कोई साधारण रोग था तो उसकी चिकित्सा के लिए मुझ गरीब की सहायता की आवश्यकता नहीं थी, उसके पास मोटर थी, बँगला और बड़ा-सा पैतृक बैंक-बैलेंस भी था। फिर डॉक्टर कुकरेजा की सेवाएँ मेरे माध्यम से प्राप्त करना, मेरे कलेजे की धड़कन को तेज कर देने के लिए काफी था। मैंने पूछा, "क्या हुआ जो डॉक्टर कुकरेजा को बुलवाया जाय!"

उसने उत्तर नहीं दिया, उसके गाल सुर्ख हो गए और निगाह एक बार मेरी ओर उठकर जमीन पर जा टिकी। मेरे मन में आत्म-प्रतारणा के भाव उमड़ते आ रहे थे कि न जाने वह कौन से क्षण थे जब मालती से मेरा साक्षात् हुआ और मेरे विवेक पर स्याही का पर्दा पड़ गया था, पर अब? अब क्या डॉक्टर कुकरेजा की चेतावनी सच हुई? मैंने साहस करके कहा, "मालती प्रतीत होता है कि तुम्हारी साबित, कदमी उलझकर तुम्हारे पैरों की बेड़ी बन गई है।"

मालती की आँखों से दो बूँदे चू पड़ीं? यह कितना भयानक विरोधा-भास था। एक ओर वह रोती थी और दूसरी ओर···वह आँसू क्या सचमुच एक छलना थे जैसे कि बहुधा मालती सरीखी लड़कियों की आँखों में आसानी से उतर आते हैं। मैंने कहा, "डॉक्टर कुकरेजा की सेवाएँ तुम्हें इसलिए चाहिएँ क्योंकि तुम मेरे-जैसे गधे

की सवारी करके डर्बी की घुड़दौड़ जीतने की आशा अब नहीं रखतीं।''

मेरी आवाज में सख्ती थी, उत्तेजन और उपेक्षा थी और मैं सोचता था मालती बिखर जायगी, तन जायगी, पर उसकी आँखें जैसे बरसात बन गई थीं। मेरी क्रूरता फिर भी बढ़ती गई, मैंने कहा, ''मालती आज तुम कुछ बोलती नहीं हो। कभी तुम्हें शिकायत होती थी कि मैं बोलता नहीं हूँ।''

अबकी बार मालती सिसकने लगी थी और तकिए से उसने अपना मुँह ढांप लिया था। मेरे लिए यह पहेली कितनी जटिल होती जा रही थी। मैंने कहा, ''आखिर अब मुझसे तुम क्या चाहती हो।''

''अब मैं और क्या चाहूँगी, सिवा मौत के ?''

मौत ? यह कैसी नई बातें। मालती मौत की बातें कर रही थी। मैंने कहा, ''पर मौत की दवा क्या डॉक्टर कुकरेजा के यहाँ ही मिलती है और उसे मैं ही खरीदकर दे सकता हूँ ?''

मेरे इस प्रश्न पर मालती जैसे तड़प उठी। बोली, ''आँखें मूँद-कर चलने वालों की सजा आत्महत्या है। सोचा था अकेली ही अपने दायित्व को लेकर लड़ूँगी। पर लड़ नहीं सकी। मर जाती, पर मर नहीं सकी। ठीक है आप अपने भविष्य को मेरे लिए क्यों बिगाड़ें और शारदा जीजी ? उन्होंने क्या कसूर किया ?''

और वह चलने लगी। मालती के लिए मेरे मन में अब भी आक्रोश था और अपने लिए एक भयानक वीरानी ? पर उसकी निगाह में वह कैसी बेचैन यास थी ? क्या सचमुच इस सामाजिक दायित्व को जो, अब अपराध बन गया था, वह केवल अकेले ढोना

चाहती थी और मैं ? मैं सचमुच निरपराध था ? मेरी कोई सजा नहीं। मैं क्या अब भी शारदा को मुँह दिखाने लायक हूँ ? पर शारदा ने मुझसे दूर रहने का विचार किया था, इसलिए कि एक दिन सदैव के लिए मेरे भाग्य के साथ अपना भाग्य जोड़ दे। लेकिन यह मालती चली जायगी। शायद दो-एक दिन अपने साहस से लड़ेगी और फिर आत्म-हत्या कर लेगी ? अथवा किसी दूसरे डॉक्टर को सेवा प्राप्त कर लेगी ? डॉक्टर कुकरेजा कहती थी कि कितने डॉक्टर हैं जो अपने पेशे के उत्तरदायित्व को समझते हैं ? अब आखिर क्या होने वाला है ?

अपने भविष्य की इतनी विकराल मूर्ति मेरी आँखों के सामने खिंच गई कि मैं ठगा-सा बैठा रहा। मालती उठ गई थी। मुझे लगा कि मालती, जिसे आज तक मैंने एक क्षण के लिए भी प्रेम नहीं किया, मेरी पशुता, मेरे स्वैराचार और वासना के जाल में फँसकर तड़पने वाली मछली है और मैं बधिक हूँ, मैं वस्तुतः एक बहुत अदना-आदमी हूँ जो अपनी वासना पर नियंत्रण नहीं कर सका और जो बधिक भी है।

अनायास मेरे पैर जीने की ओर मुड़ गए। सीढ़ियों तक पहुँचते-पहुँचते मैं भागने लगा था। मालती को गए अभी एक क्षण भी न हुआ था। लेकिन वह जा चुकी थी, दूर-दूर तक उसका कुछ भी पता नहीं था। न जाने कितनी तेज़ी से गई होगी ?

आज पहली बार मेरी आँखों में आँसू आए थे। कह नहीं सकता कि मालती की बेबसी पर, अपने उद्दाम पौरुष-पुञ्ज पर, अथवा शारदा के लिए ? पर मेरा मन तड़प रहा था। शायद तीनों ही कारणों पर ? और मैं सोचता था, "आह ! यदि मैंने अविवेक से काम न लिया होता। काश ? मेरी वासना मेरे गले का सर्प न बनी होती ?"

इतना-सा दौड़ने में मैं थककर चूर हो गया था और पीछे लौटने लगा तो कदम नहीं उठते थे। सोचता था जैसे किसी को लूटकर बियाबान जंगल में छोड़ आ रहा हूँ। जीने का सहारा लेकर मैं ऊपर चढ़ने लगा तो देखा कि कुछ दूर मालती भी उसी प्रकार रेलिंग का सहारा लेती उतर रही है। वह शायद इस मायूसी को सहन नहीं कर सकी है और चलते हुए बेहोश हो गई है? मैंने उसे आगे बढ़कर बाँहों में सँभाल लिया और उसी बदनसीब कमरे में ले गया। उसे अभी पसीना आया हुआ था लेकिन मूर्छना का दौर बीत चुका था। मैंने कहा, "तो मालती तुम चाहती हो कि जो कुछ तुमने किया है आज उसका अनस्तित्व हो जाय?" तो उसने अपनी सुर्ख-सुर्ख आँखे इस तरह ऊपर उठाईं कि मेरी समस्त दृष्टि-सत्ता उनमें बँधकर रह गई! मैंने उसका सिर अपनी हथेलियों में थाम लिया और उसकी आँखों में देखता रह गया था। उनमें जनून नहीं था, वेग से उठने वाले शराबी अबखरे भी नहीं थे। उनमें स्वयं मेरा अपना-आपा झाँक रहा था। मेरी इस बात को सुनकर उसके चेहरे पर एक शीतल मुसकान फैल गई थी और उसने मुझे अपनी ओर खींच लिया था।

मैंने उसे शांत हुआ देखकर फिर कहा, "तुम समझती हो जिस सामाजिक उत्तरदायित्व का वहन तुम कर रही हो उसके प्रति मेरा बिलकुल भी उत्तरदायित्व नहीं?"

मालती ने कहा, "उत्तरदायित्व है अगर कोई अपने किये के पास बैठने का साहस बटोर ले। पर मैं आपसे उसकी उम्मीद कैसे करती। पहले दिन आई थी तो क्या किसी उत्तरदायित्व की भावना मुझमें थी। मैं पश्चात्ताप की भावना से घुलती थी, पर आपसे उम्मीद नहीं होती थी। सोचा था आत्म-हत्या कर लूँगी। पर लगता है कि मैं जीवन

को मृत्यु से अधिक प्यार करती हूँ। जैसे अपने मरने का निश्चय करना भी अब मेरा अपना काम नहीं रह गया है।"

कहते-कहते उसके गाल एकदम सुर्ख हो गए। "पर अब कहाँ जाऊँ। पिता जी सुनकर आग-बबूला हो गए। पर उसमें अनुचित क्या था? उनके द्वारा दी गई आजादी का उपयोग मैंने किस प्रकार किया था। अब कोई सान्त्वना नहीं देता। चारों ओर से नफरत की निगाहें उठती हैं। काश, लड़कियाँ यौवन के प्रथम प्रभात में अपनी इस असमर्थता को समझ सकतीं तो यह पाप ··।" उसकी आँखों से पुनः आँसू झरने लगे थे।

"पाप?" मैंने सिहरते हुए कहा, "यह पाप कैसे हुआ माँ बनना! प्रत्येक स्त्री एक-न-एक दिन माँ बनती है। और तुम भी एक खुशनसीब माँ·····।" आगे मैं कुछ कह नहीं सका। न जाने अन्दर से एक कैसी हिलोर उठी थी जिसका वेग मैं सहन नहीं कर सका। और मैं बाहर उठ गया था।

मैं कुछ देर बाद लौटा तो मालती छोटे-छोटे मौजे बुन रही थी। फिर कुछ देर बैठकर मालती चली गई। जाते समय वह कुछ निश्चिन्त थी। इसलिए अपने मन में जो कुछ कहने की सोचकर आई होगी, उसे वैसे ही लिये चली गई।

सचमुच मालती मुझ पर लद नहीं सकती थी। वह मेरे रास्ते का काँटा नहीं बन सकती थी, यदि एक झटका देकर मैं उसे अपने रास्ते से हटा देता अगर मैं इस इन्सानियत की हत्या कर देता, जिसकी झलक आज मुझे मालती की आँखों में मिली थी। वह मेरी पत्नी थी, मिलन के प्रथम क्षणों से ही और मैंने एक दूसरा सामाजिक अपराध किया कि शारदा को ठगता रहा—उस अमूल्य नारीरत्न को? हर्ष और विषाद के

इस विलक्षण संगम में मैं डूबता-उतराता रहा। मालती इतनी ममतामयी कैसे हो गई थी। और मैं इतनी ममतामयी अपनी प्रिय सहधर्मिणी को ठोकरें खाने के लिए विनाश के उस बीहड़ पथ पर अकेला कैसे छोड़ सकता था? अब यह मेरा उत्तरदायित्व था।

अगले दिन मालती आई तो बिनाई के लिए कोई दूसरी चीज़ हाथ में लिये हुए थी। मैंने कहा, "मालती तुम्हें मालूम था कि मैं शारदा को तुमसे अधिक प्यार करता था।" वह बोली "नहीं।" मैंने फिर कहा, "लेकिन मालती, अब तुम हो जिसे मैं दुनिया में सबसे अधिक प्यार करता हूँ।" उसी समय शारदा के अन्तिम शब्द याद आ गए थे और मेरा गला रुँध गया था और साँस फूल गई थी। लेकिन मालती ने वह सब नहीं देखा। उसकी दृष्टि जैसे बाहर देखना भूल गई थी। वह अब अपने से कितनी बेखबर हो गई थी। तभी मैंने कहा था, "चलो मालती, मेरे साथ मैजिस्ट्रेट के यहाँ और जीवन से जूझने के लिए तैयार हो जाओ।"

६

शरणार्थी

आज प्रातःकालीन समाचार-पत्र की मोटी सुर्खी देखती हुई अलेखा बराण्डे में चली आई। बाहर बुआ बड़े मनोयोग से अन्न से अपान्न पृथक् कर रही थी। बोली, "कहीं ऐसा न हो—ये साम्प्रदायिक लपटें हमारी ओर बढ़ती चली आयँ।'

बुआ अलेखा की बात सुनकर भौं चढ़ाकर रह गई। और अलेखा जैसे अपशकुन-सी सुन्न। पर अलेखा की बात बुआ की भौंहों में ही बंद रह गई हो—यह बात नहीं थी। पास ही भाभी कमला की वेणी गूँथ रही थी—एक गूँथ चुकी थी और इस चर्चा में भाग लेने दूसरी को भी जल्दी से समाप्त करके बाहर निकल आई।

लम्बी-लम्बी वेणियों को सँभालते हुए कमला ने समाचार-पत्र हाथों में ले लिया और पढ़ा कि सीमाप्रांत में भयानक हत्याकांड आरम्भ हो गया है।

फिर इस मध्यवर्गीय शिक्षित परिवार की महिलाओं में इस हत्याकाण्ड की जड़ को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अच्छा खासा वाग्-युद्ध हो गया। बुआ कह रही थी कि जब तक देश में म्लेच्छ रहेंगे ऐसे हत्याकाण्ड नित्य-प्रति होते रहेंगे। भाभी ने कहा—कुछ नहीं। कौन हिन्दू, कौन मुसलमान ! लड़ाने वाले लड़ाते हैं— हड्डी फेंकी जाती है और कुत्ते लड़ते हैं।

आज संध्या को अलेखा ने रेडियो भी नहीं खोला। यों रेडियो के

खोलने से उसकी मनःस्थिति बदली नहीं। उलटे सारा घर एक सूनी साँय-साँय से भर गया। उसे ध्यान आया कि अभी तक अनिरुद्ध और आशाकान्त कोई भी लौटकर नहीं आए। देश की हालत बिगड़ती जा रही है, आशाकान्त क्या दस बजे से पहले लौटने वाले हैं।

अलेखा के स्मरण करते-करते अनिरुद्ध आ गए। नित्य छै तक आ लेते हैं। बैंक की मैनेजरी है, कभी-कभी देर हो जाती है। आते ही आरामकुर्सी पर पसर रहे। बुआ की आँखें प्यासे पंछी के पंखों के समान उसके मुख पर फैल गईं। कुर्सी पर लेटे-लेटे अनिरुद्ध ने दीना को आवाज दी और बूआ की कुर्सी खींचते हुए धीरे से कहा—देखा बुआ, ये पैसे वाले कितने कायर होते हैं। आज डेरा इस्माइल खाँ पर आफत आई कि बैंक के ५०० महाजनों ने अपनी रकम दिल्ली को बदलवाई हैं। नाक में दम आ गया है। मैं कहता हूँ अब पंजाबियों में विलासिता आ गई है। गुरु नानक और नलवा का पंजाब डूब जायगा।

अकस्मात् उसे आशाकान्त का स्मरण हो आया। अलेखा से पूछा कि आने के विषय में वह कुछ कह गया है।

अलेखा ने आँखें नीची कर लीं। "वे कहेंगे क्या! रात-दिन न जाने क्या धुन सवार रहती है! लाख कहा सवेरे संघ चला करो। और कुछ न सही थोड़ा व्यायाम ही सही। पर वह तो सिर से पैर तक इत्तहाद से भरपूर हैं। सच कहता हूँ अकेले पिछले हफ़्ते से हजारीमल के दर्जनों टेलीफोन आए हैं। रोज वही हड़ताल का रोना और फिर एक दिन का रोना हो। वह तो समझो सेठ का लाखों का जड़ाऊ और सुनहरा इधर वाल्ट में भरा है, वरना बच्चू की कैमिस्ट्री दो दिन चले।"

अनिरुद्ध खाना खाने बैठ गए! समाप्त करके हाथ धो रहे थे कि

आशाकांत भी आ गया। अनिरुद्ध ने पितृ-तुल्य सधकर कहा—"कान्त, थोड़ा इधर आना तो।"

आशाकान्त भाई के पास चला आया। अनिरुद्ध ने आरामकुर्सी पर बैठते हुए कहा—"तुम दिन-भर मारे-मारे फिरते हो। कुछ अपने काम और दीन-दुनिया की जिम्मेदारी को भी समझो भाई?"

"हाँ कोशिश करता हूँ भाई साहब?" आशाकान्त ने कहा।

"खाक करते हो। तुम्हें इत्तिहाद का बिगुल बजाने से फुरसत ही कहाँ है?," अनिरुद्ध ने कहा।

"तो फिर आपके साथ-साथ चला करें।" आशाकान्त ने उत्तर दिया।

"क्यों? क्या हर्ज है संघ चलने में। तुम्हारे-जैसे लौंडों की मजाक का विषय नहीं है संघ। हिंदू धर्म और संस्कृति की यदि रक्षा होनी है तो राष्ट्रीय सेवक संघ करेगा।" अनिरुद्ध पंडित ने चमककर कहा।

"धर्म और संस्कृति की रक्षा कोई महत्त्व की बात मैं नहीं मानता। खास तौर से उस धर्म और संस्कृति की रक्षा—जिसकी जड़ें खोखली और जर्जर हो चुकी हैं...?" कहते-कहते आशाकान्त रुक गया।

अनिरुद्ध क्रोध से उन्मत्त होकर बड़बड़ाने लगे थे—नास्तिक बन गए हैं। न चुटिया, न जनेऊ, लीडर बने घूमते हैं। देखते हैं कल यहाँ झगड़ा हुआ तो कौन बचाते हैं तुम्हें?"

दीना; जो अभी साइकिल पर आया था और दोनों की बात सुन रहा था, फाटक की आड़ से आगे बढ़ आया। बोला—"छोटे बाबू माफ करना। आप बड़ी हारी बात कहते हैं। धर्म की रक्षा तब तक हुई जब तक हिंदू और खालसा की तलवार में जोर था। एक जमाना था जब लायलपुर के मुल्ला पुरवइया अजान पढ़ते थे और सरदार कीटासिंह सुअर का शिकार करके सरे बाजार कन्धे पर लादकर चलता था।

जोर-जोर की बातें सुनकर बुआ भी चली आई। जानती है, भाइयों में बनती नहीं है। यही खटाई आन्तरिक तलखी न बन जाय, इसका बुआ ने सदैव ध्यान रखा है। दीना की पीठ पर धक्का देकर बुआ ने उस की भर्त्सना की। अनिरुद्ध भी उधर से उठ गए। आशाकान्त ने दीना की जहालत और शूरता दोनों देखीं और निगाह दूसरी ओर फेर ली, 'आज जहालत ही इन्सानियत की संरक्षिका बनी है!' और एक निश्वास लेकर वह कुर्सी पर बैठ गया।

अलेखा ने आशाकान्त के लिए थाल परोस लिया था। भोजन करते हुए आशाकांत के चेहरे पर श्रम और विषाद की सुर्खी स्पष्ट चमक रही थी—विषण्ण-सी उसकी आँखें जैसे भोजन को न देखकर कोई दूरस्थ स्वप्न देख रही थीं। अलेखा ने धीरे से टोका—भैया क्या सचमुच तुम उन हिंसकों से मेल बढ़ाना पसंद करते हो।"

आशाकान्त ने आँखें उठाकर अलेखा के चेहरे की सरल जिज्ञासा को देखा—"कौन हिंसक ?"

"ये ही, जो नोआखाली, कलकत्ता और अब पंजाब में हिंदुओ के खून से होली खेल रहे हैं।" अलेखा ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया।

आशाकान्त चुप हो गया। थोड़ी देर में बोला—"हिंसक कौन नहीं है। मैं भी हिंसक हूँ, पर धर्म के नाम पर नादिरशाह नहीं। सारी दुनिया के इन्सान का जैसे ईश्वर एक है, वैसे ही धर्म एक है। आज जो भिन्नता है वह बाहरी है और मानव-कृत है। इन्सान की इस जालसाजी का चोला यदि उतार फेंका जाय तो धरती की छाती से न जाने कितने युद्ध सदैव के लिए विलुप्त हो जायँ। यथार्थ को देखो यदि बंगाल, सीमाप्रान्त और पंजाब के हिंदू भी मुसलमान होते तो क्या यह नरमेध चलते ? यह धार्मिक युद्ध करने का युग नहीं है।"

"धर्म व्यक्ति की वस्तु रहे तो अच्छा। धर्म के सामूहिक प्रयोग ने इतिहास में सदैव प्रतिहिंसा पैदा की। मानव को बार-बार खूँखार पशु बनाया और आज वही धर्म इन्सानियत के विरुद्ध फिर से खुली बगावत कर रहा है। आज की इस बगावत के शव पर अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी यदि हम सच्ची इन्सानियत को जीवित रख सकें तो आने वाली संतानें सुखी होंगी।"

भोजन करके आशाकान्त उठने लगा। उठते-उठते कहा—"पर अलेखा, भविष्य अंधकार में नहीं है! इन्सान की सच्ची आजादी का स्वर्ण विहान शीघ्र उदित होगा।"

अपनी बात समाप्त करके आशाकांत चलने लगा। अपने वाक्यों के वेग से स्वयं स्फूर्त हो जैसे वह अपने हृदय का रहस्य प्रकट करना चाहता हो। बहन के अधिक निकट जाकर उसने कहा, "अलेखा, हमने मिल के कमकरों की एक सेना बनाई है जो इस पाशविकता का मिलकर सामना करेगी। यह सेना हिंदू-मुसलमानों, दोनों की सेवा करेगी।"

आशाकांत दूसरे कमरे में चला गया। अलेखा को लगा जैसे कोई देवदूत दिव्य ज्ञान देकर अन्तर्धान हो गया हो। पर आशाकांत की बात में जो यथार्थ था उस पर अलेखा को विश्वास नहीं हुआ! फटे-टूटे मजदूरों की सेना इस साम्प्रदायिक आँधी में कैसे टिक सकेगी। पर वह इस बात पर अविश्वास नहीं करना चाहती थी।

परन्तु एक दिन अकस्मात् यह पंडित-परिवार ही क्या सारा लायलपुर काँप उठा। सारे पंजाब में दंगों की लहर-सी फैल गई। भयानक-से-भयानक समाचार, पत्रों में मोटी-मोटी सुर्खियों से प्रकाशित होने लगे। बुआ ने सोचा अब लायलपुर छोड़कर कहीं चले जायँ। परन्तु कहाँ जायँ, मेरठ से तीन पीढ़ी पहले यह परिवार लायलपुर

आया था और पूरी तरह पंजाबी हो गया था। बाहर से तो सारा सम्बन्ध ही उठ गया। घर-बार, सम्पत्ति और रोजगार छोड़कर कहाँ जायँ। बुआ ने सारे घर वालों की कान्फ्रेंस की। अनिरुद्ध की बैंक की मैनेजरी है, महीने से पहले छूट नहीं सकती और आशाकान्त कुछ भी नहीं बोला। फिर इन दो-दो जीवन-धनों को छोड़कर किसका प्रवास सार्थक होगा। अलेखा ने पूछा—"कांत भैया, कहाँ चलोगे ?"

"कौन चलेगा", आशाकान्त ने कहा।

"हम सभी, कहाँ चलेंगे ?" अलेखा ने दीनवत् कहा।

"जाना कहाँ है। दुनिया में कोई जगह है जहां साम्प्रदायिकता, रंग, भेद और जातीयता का सर्प फुफकार नहीं रहा," आशाकान्त ने उत्तर दिया।

अलेखा का इससे धीरज नहीं बँधा। असमर्थता से उसकी आँखों में आँसू आ गए। स्त्रियों पर इन्सान ने कैसे-कैसे अत्याचार किये हैं। जिनकी कल्पना से मृत्यु भी सुखद प्रतीत होती है और फिर उस घर में चार-चार स्त्रियाँ ··?

सारे प्रान्त में अत्याचार की अग्नि रुई की आग की तरह फैलती आ रही थी। सदियों पुराने पारिवारिक सम्बन्ध एक झटके के साथ बदल गए। मोहल्लों में मोर्चे लगे थे।

शस्त्रों पर शान रखी जाने लगी थी। मौत की तरह करफ्यू नगरों की सड़कों, गलियों और छतों पर छा गया था! पड़ोस से बन्दूकों की दनादन और आहतों के चीत्कार को सुनकर शहर का कोई सभ्य ऐसा न था जिसके रोम-रोम सूअर के बालों की तरह न खड़े रहते हों।

सारा लायलपुर साम्प्रदायिक पिशाच के भयानक शिकंजे में कस गया। परन्तु इस साम्प्रदायिक वैमनस्य के भयानक समय में भी

आशाकान्त और हजारीमल कपड़ा-मिल के 'नागरिक दल' के उपाध्यक्ष रहमान खाँ बराबर मिल रहे थे। न संकोच, न भय और न विश्वास-घात का आतंक। इसी नागरिक दल की शक्ति पर भरोसा करके सेठ हजारीमल ने मिल को हड़तालियों के सरदार आशाकान्त और रहमान खाँ के ऊपर छोड़ दिया था। मिल के कमकरों को शस्त्राभ्यास कराते समय पता लगता था कि इत्तिहादी और आदर्शवादी-सा युवक आशाकांत किस तरह दोनों हाथों से तलवार और पिस्तौल चला सकता था।

परन्तु पंजाब का यह ऐतिहासिक साम्प्रदायिक सैलाब मजदूरों की लाठियों पर भी उतरता चला गया। आशाकान्त और रहमान ने लुटेरों और गुण्डों का मुकाबला किया, पर कपड़ा-मिल के मजदूरों के 'हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई' 'फूट डालने वालों का नाश हो' के नारे लुटेरों के घोर चीत्कार में खो गए। नागरिक दल की सुरक्षा में पड़े कितने ही हिन्दू-मुस्लिम-परिवार मौत के घाट उतारे गए। सेठ हजारीमल की तीसरे फलक पर चढ़कर आकाश की ओर लपकने वाली आरामगाह भी आन-की-आन में धू-धू करके जल गई।

परन्तु नागरिक दल के उस अद्भुत आदर्श से हिन्दू और मुसलमानों के हृदय एक बार सात्विक आदर्श से भर उठे। स्वयं अखण्ड हिन्दू अनिरुद्ध पं० आशाकान्त के मुख से उक्त घटना को सुनकर हर्ष और आह्लाद से चार-चार आँसू रोए। उन्होंने अपने हाथों भाई की पट्टियाँ बदलीं और अलेखा भाभी, कमला और बुआ के साथ सरदार दीनासिंह ने मौन श्रद्धांजलि अर्पित की।

नागरिक दल की पराजय से आशाकान्त का स्वप्न जैसे पकड़ में आने से पहले ही भंग हो गया था। शहर की क्षणिक शांति और व्य-वस्था लूट, हत्या और बलात्कारों के वेग से पुनः हिल उठी और उसके हृदय में भविष्य का लहलहाता एक मंगल-वट अनायास ही सूख गया।

तीन पीढ़ियों से प्रतिष्ठित और सुखी यह पंडित-परिवार बगुले की चोंच से छुटे सीप के समान आज इस साम्प्रदायिक रेगिस्तान में घिरकर रह गया था। दो-दो जवान कन्याओं को सामने देखकर बुआ की आँखों में आँसू तक भी न सूखते। उपद्रवियों द्वारा किये गए अत्याचार मोहल्लो में वायु की तरह व्याप्त थे। रात्रि-भर जागते-जागते पुरुषों की आँखों में शराबियों के-से लाल डोरे खिंच गए थे। इन्सान के सिर पर खून सवार हो गया था। दुधमुँहे बच्चे स्वयं अपने बाप-भाइयों की शक्ल देख-देखकर चिल्ला उठते। रात्रि में दूर-दूर से आता हुआ चीत्कार, संतरियों की खबरदार, बिल्लियों के रोमांचकारी रुदन, विचित्र अशुभ-सूचक पक्षियों के भयानक स्वर अपनी सम्पूर्ण भयावहता के साथ वायु-मण्डल में तैरते रहते। प्राणों के समान प्यारे पति-पत्नी भूतों के समान संलाप करते दीखते और हरी-भरी फुलवारियों से घरों के आँगन श्मशान के समान जड़ प्रतीत होते थे।

पंडित-परिवार वाले मोहल्ले में एक बार तै हुआ कि सारे हिन्दू अपनी कन्याओं, वधुओं को अपने हाथ से समाप्त करके बाहर निकलकर जूझ जायँ। यह दृश्य हृदय को विदीर्ण कर देने वाला था। बहन भाई के गले से चिपटकर छूटने का नाम ही न लेती थी और पत्नियाँ... हाय उनके हिय की कौन परखे!

पर यह जौहर भी पूरा न हुआ। ग्रीष्म की तप्त वायु में प्रथम मानसूनी झोंके के समान एक दूसरा समाचार विस्तारित हुआ कि अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए सैनिक टुकड़ी आ गई है और शरणार्थियों को हिन्दुस्तान पहुँचाया जा सकेगा।

डूबते सागर के यात्रियों के समान अवशिष्ट शरणार्थी तेजी के साथ सैनिक टुकड़ी के साथ एकत्रित होने लगे। पंडित-परिवार भी

पड़ौसी के ठेले पर थोड़ा सामान लादकर सतर्क सुरक्षा करता हुआ पड़ोसियों के साथ चल पड़ा। चन्द मिनटों में सहस्रों की संख्या में शरणार्थी सेना के पास पहुँच गए और शरणार्थियों का यह काफिला चल पड़ा। सभी की आँखों में आँसू थे और वे बार-बार मुड़कर अपनी प्यारी जन्मभूमि को देखते जाते थे। आशाकान्त की आँखें भी तर थीं—और दोनों हाथों की अञ्जलि मस्तक से लगाये नतमस्तक वह कितनी ही देर खड़ा रहा और उसके होठ फड़के—प्यारे पंजाब—भगतसिंह और गुरु नानक के पंजाब!! अलविदा!!

आशाकांत के इस मौन रुदन को देखकर पंडित-परिवार करुणा और शोक से पिघल उठा; कमला और अलेखा भाई की दोनों बाहों पर आ गईं और वह चल पड़े!

स्वधर्मी सेना की सुरक्षा में चार कदम चलने पर जैसे शनैः-शनैः किसी शिकंजे से छूटने लगे। अपनी आस्तीनों से लोगों ने आँसू पोंछ लिए थे और थोड़ी-थोड़ी कानाफूसी आरम्भ हो गई थी। किसी-किसी दल में कोई पीड़ित आततायियों के अत्याचारों का वर्णन करने लगा था। कुछेक के स्वर में दबे-दबे प्रतिशोध की भावना भी सिर उठाने लगी थी।

शरणार्थियों की यह टुकड़ी स्टेशन को छोड़कर किसी बड़े जत्थे से मिलने जा रही थी, जो इससे भी अधिक सैनिक सुरक्षा में ऐतिहासिक ग्रांड-ट्रंक रोड से हिन्दुस्तान की ओर प्रयाण कर रहा था। काफिले से मधु-मक्खियों की गुञ्जार के समान गूँज-गूँजकर आवाज निकल रही थी। जिस दल में कोई बात उठती, सारी पंक्ति विश्रृङ्खल हो जाती और बहस में भाग लेने सभी लोग उधर जमा होने की कोशिश करते। अनिरुद्ध पंडित अपने दल के मुखिया थे। उन्होंने एक बार

कहा—"इस भीषण नर-संहार की सारी जिम्मेदारी देश के नेताओं पर है।"

"ठीक कहा पंडित जी ! यह सब कांग्रेसी लीडरों की कमजोरी का फल है।" एक दूसरे ने कहा।

"उन्हें सरकार से इस्तीफा दे देना चाहिए—इनके बस में हुकूमत नहीं रह सकती।" एक तीसरे ने कहा।

वास्तव में सारा काफिला आकण्ठ राजनीति से भर उठा था और राजनीति के बहाने हृदय का क्षोभ प्रकट कर रहा था।

आशाकान्त ने धीरे से कहा—"नेताओं को दोष देना मूर्खता है। पिछली आधी शताब्दी से यह गुलामी का फोड़ा न जाने कितने विषों को अन्तर में संजोए था। इसमें क्या आश्चर्य कि वह साम्प्रदायिक युद्ध के रूप में फूट पड़ा। परन्तु इतिहास से अनुभव प्राप्त करना अब हमारा फर्ज होना चाहिए। घृणा और प्रतिशोध की भावना हृदय में न पालकर हमें एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना चाहिए जिसमें सब सुखी, संतुष्ट और समान हों।"

एक ओर से आवाज आई—"हमारे दिलों में फफोले पड़े हुए हैं। हम युद्ध करके बदला लेंगे।"

इस वाद के प्रस्तुत होते ही विवाद उठ खड़ा हुआ। लोगों की सम्मिलित आवाज एक उत्तेजित शोर में बदलने लगी। शरणार्थियों की संरक्षक टुकड़ी के कमाण्डर ने जोर से आवाज लगाई—"खबरदार—एक कतार में हो जाओ ?"

हवा की हिलोरों से कल-कल करते जल के समान स्वर करते सभी शरणार्थी पंक्तिबद्ध हो गए। मूक निस्तब्ता छा गई। आकाश में

उड़ने वाली हिंसक चील और गृद्ध नीची डुबकियाँ लेकर मानव-मुण्डों पर झूलने लगे ! भूख और प्यास से बिलखते शिशुओं को माताएँ संतुष्ट करने लगीं, कुछ यात्रा की थकान से आये प्रस्वेद-बिंदुओं को पोंछ आंचलों से हवा करने लगीं।

लायलपुर और लाहौर लगभग एक सौ मील का यह रास्ता एक हफ़्ते का मृत्यु से भरा हुआ रास्ता था। नित्य संध्या और प्रातः ऊँटों, बैलों और घोड़ों की परछाइयाँ लम्बी हो जातीं। रात्रि का घना अन्धकार वातावरण की समस्त बीहड़ता के साथ आता—सूर्य की प्रखर किरणें सिरों पर खेलती होतीं और यात्रा का अगला चरण पुनः सामने उठ जाता।

कोमल कुमारियों और कुल-वधुओं का स्निग्ध सौंदर्य झुलस गया था। भोजन और जल के अभाव में कितने ही किशोर भड़क-भड़क कर जीवन समाप्त कर चुके थे। कितनों के पैरों में पड़े फफोले फूटकर जख्मों का रूप धारण कर चुके थे। शेष स्वस्थों में से शनैः-शनैः कितने ही आक्रान्ताओं से युद्ध करते हुए काम आ चुके थे।

पंडित-परिवार का अनन्य मित्र दीना भी इन्हीं महा प्रयाण-कर्ताओं में था। बुआ को कई दिन से रक्त-संचार होना आरम्भ हो गया था और कमला को ज्वर आ रहा था। आशाकान्त एक हफ़्ते की यात्रा में एक दिन भी न सो पाया था। कोई सो भी किस प्रकार सकता था। साम्प्रदायिकता के उस भयानक महासमुद्र में टूटे-फूटे हथियारों के पतवार सदैव उनके हाथों में जकड़े रहते।

आखिर लाहौर के गुम्बद, मीनारें दीख पड़ने लगीं। विदित हुआ कि जो क़ाफिला शेरशाह सूरी के उस महान् राजपथ से आ रहा है

वह अभी बहुत दूर है इसलिए टुकड़ी के सरदार ने निश्चय किया कि कैम्प करने की अपेक्षा यह काफिला गाड़ी में सफर करेगा।

रेलवे-स्टेशन पर गाड़ी उपस्थित थी। यह गाड़ी पहले से शरणार्थियों को ला रही थी। गाड़ी के रुकते ही प्लेटफार्म पर खड़ी भीड़—हजारों की भीड़—भयभीत सर्प की तरह सिकुड़-सिमटकर उसके अन्दर समा गई।

सशस्त्र सेना की सुरक्षा में गाड़ी पुनः चल पड़ी। जख्मी घोड़े की तरह गाड़ी रुकती और कुदकती जा रही थी! एंजिन की एक-एक धक्-धक् के साथ यात्रियों के कलेजे धक्-धक् कर रहे थे और वतन पीछे छूट रहा था—वह घोर शत्रुतापूर्ण प्रदेश, जो कुछ दिन पहले प्राणों से प्यारा पंजाब, पाँच विशाल सरिताओं से अभिषिक्त-भारतवर्ष का गौरव पंजाब था!

और इसी गाड़ी के डिब्बे में एक भयंकर भविष्य की कल्पना लिये पंडित-परिवार भी बैठा था।

आखिर हिन्दुस्तान का सीमान्ती दुर्ग अमृतसर आ गया। यात्रियों ने गगन-भेदी स्वर में पुकारा "महात्मा गांधी की जय," "पंडित जवाहरलाल नेहरू की जय।"

प्रत्युत्तर में स्वागतकर्ताओं ने पुकारा—"गुरु साहब–गांधी–नेहरू की जय।" और अपनी रक्त से सनी कृपाणों और तलवारों को वायु में घुमाया, मन-ही-मन भीषण रक्तपात करने का संकल्प लिये। भोजन और दुग्ध के कैण्टीन खुले थे। निर्जीव यात्रियों में पुनः जीवन के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। लोगों ने हफ़्ते-भर की बढ़ी हजामतों को किनारे लगाया और समर्थों ने कीचड़ के समान वस्त्रों को पुनः बदला।

एक घण्टे का विश्राम करने के बाद गाड़ी पुनः चल पड़ी। अब की बार वह केवल शरण पाने के लिए भागे हुए भयभीत नागरिकों से ही न भरी थी प्रत्युत उसमें कितने ही धर्मवीर भी थे। आशाकान्त ने देखा, डिब्बे मे कितने ही हृष्ट-पुष्ट आदमी चढ़े थे—कई हत्याकांडों की कहानियाँ सुनाते थे—एक अत्यन्त भयानक आकृति वाला आदमी चढ़ा जो अपनी लम्बी बाहों को फटकारकर असंख्य शत्रुओं को मार डालने का गर्व दिखा रहा था।

अलेखा ने आशाकान्त से पूछा—"भैया, इधर भी हत्याकाण्ड हो रहा है क्या ?"

आशाकान्त कुछ न बोला। उसके मस्तिष्क में न जाने क्या विचार उठ रहे थे—नागरिक-दल के पराभव के विचार भी इनमें थे, केवल इतना ही स्पष्ट था।

गाड़ी की रफ़्तार तीव्र थी और वह जमकर चल रही थी। डिब्बे में बैठे एक यात्री ने कहा—"दुर्भाग्य है कि हिन्दुस्तान की सरकार अब भी हमारे शत्रुओं को गले लगा रही है", दूसरे ने कहा, "मेरी आँखों के सामने, हत्यारे, मेरे चार भाइयों को खत्म कर गए। अगर इन हाथों ने ४० को न सँभाला तो मेरा जीना हराम है।"

आकस्मिक आवेश में आशाकान्त पंडित उठ बैठे। बड़े जोर से बोले—"ये शब्द तुम्हारे मुँह में शोभा नहीं देते।"

स्वर की गम्भीरता सारे डिब्बे पर छा गई। स्वयं आशाकान्त भी चुप था। विद्रोहियों का जत्था पुनः भड़कने लगा—"गद्दार है—कौन है—पकड़ो—मारो ?"

अलेखा ने व्यग्रता से गाड़ी के दूर कोने में टिमटिमाते प्रकाश को भाई पर पड़ने से रोक दिया। पर इस झुटपुटे प्रकाश में एक

मानव-मूर्ति ऊपर उठ आई और······"आज दूसरों की तरह तुम भी हिंसा, अधर्म और पशुता की बातें करते हो जो इन भावनाओं का कठिन-से-कठिन परिणाम स्वयं भुगत चुके हो। अगर आज भी तुमने इन्सान और इन्सान में भेद किया तो तुम्हारी संस्कृति, धर्म और समाज-व्यवस्था समूल नष्ट हो जायगी। थोड़े विवेक से काम लो। एक व्यक्ति के ज्वर से सारे राष्ट्र के ताप को आँकने का प्रयत्न न करो। अपनी जबान में कानून को लपेटकर समूचे राष्ट्र के संचालन की दुर्भावना को न पालो हमने जो खोया है वह पशुता के मार्ग पर जाकर नहीं प्रेम और बन्धुता के मार्ग पर चलकर मिलेगा। हमें ऐसे धर्म का निर्माण करना होगा जो एक इन्सान को दूसरे के रक्त का प्यासा न बनावे।"

गाड़ी दौड़ती जा रही थी। आशाकान्त पंडित पुनः बैठ गए। डिब्बे में स्तब्धता छा गई। सैनिक-सुरक्षा से और ठण्डी हवा के झोंकों से बहुत से यात्री पुनः झूमने लगे थे। कुछ के हृत्तलों में भयानक सूनापन छाया हुआ था और कभी-कभी पड़ोस से आने वाले बन्दूकों के स्वर से अब भी चीख उठते थे—पटरी के किनारे पड़े किसी अभागे की लाश अब भी गाड़ी के प्रकाश में कभी-कभी चमक उठती थी। और उसे देखकर अलेखा को बार-बार धोखा हो उठता था कि अभी पाकिस्तान पीछे छूटा नहीं!

७

अमानत

वातायन से झाँकती प्रकाश-किरणें भीत पर लगे एक चित्र को प्रखर कर रही हैं जिसमें यौवन के भार से श्लथ और रात्रि की केलि से अवसादित एक रूपसि अँगड़ाई तोड़ कर स्फूर्ति के प्रभात को जगाना चाह रही है। कलात्मक चित्रों से सुसज्जित इस कक्ष को देख कर जयवन्त सोच रहा है कि जैसे वह ज्वालामुखी के मुख से निकल कर हिमालय की गोद में आ गिरा है।

उसे आश्चर्य हो रहा है कि क्यों निरञ्जन ने इस युवती को ढाल और कवच से भी अधिक तत्परता से अङ्गीकार किया। कितनी सरल और विनम्र है यह शचिबाला।

शचिबाला की यह प्रतीक्षा करना नहीं चाहता, क्योंकि किसी की प्रतीक्षा करने वह नहीं आया है। किन्तु प्रातःकाल की प्रथम किरण के साथ ही शचिबाला आ गई और उसके अत्यन्त निकट कोच पर ही आ गई। वह अभिवादन भी न कर सका। शचिबाला के नेत्रों में दीवार पर लगे चित्र की रमणी के समान ही ललाई थी और वह उसी के समान श्लथ प्रतीत होती थी। उसके निकट बैठे जयवन्त को लगा कि वह वहाँ से उठ जाय। न जाने क्यों वह दबा-सा जा रहा है।

शचिबाला ने उसकी ओर आमुख होते हुए कहा, "क्षमा कीजिए। जब से आप आए हैं आपकी कोई सेवा न हो सकी। आपके

आने के बाद ही एक दुःखद सूचना मिली । काश ? यह सूचना एक घण्टे के बाद मिली होती तो निरञ्जन दादा मुझे यों छोड़कर न चले गए होते ।" इसके बाद शचिबाला चुप हो गई । चिन्ता के बादल उसके मुख पर घिरते दीख पड़े ।

जयवन्त ने दीवार पर लगे चित्र को मन-ही-मन जो समता शचिबाला से की थी उसके लिए वह अन्दर-ही-अन्दर लज्जित हुआ बड़े विनम्र शब्दों में बोला, "हमारा आना आपके लिए शुभ नहीं हुआ ।"

"जी नहीं । निरञ्जन दादा के लिए तो यह प्रसन्नता का समाचार होता । गृहस्वामी की मृत्यु पर तो वह मित्रों को भोज देते । किन्तु मैंने उस शरीर को पति के रूप में ग्रहण किया था ?"

"मुझे बहुत दुःख है । यही स्थिति है जिस पर इन्सान का कोई अधिकार नहीं हो सका ।"

"अधिकार पाने की तो आवश्यकता भी न थी । उन्होंने जीवन के भरे-पूरे दिन देख लिए थे । रोती तो आत्म-प्रवञ्चना पर हूँ । जिस क्षण की कल्पना करके नारी विकल हो उठती है, वह मेरे जीवन में आया और चला गया । मुझे उसका आना अनुभव हुआ, न जाना । जिसे माथे का सेंदुर समझा वह राख की टिकुली की तरह पुछ गया । मेरे हृदय में एक बार भी धड़कन न हुई, टीस न उठी । यह सब आत्म-छलना नहीं तो और क्या थी ।" शचि- बाला को न जाने क्यों रुलाई आती जा रही है । यद्यपि उसे विदित है कि गृहस्वामी उसके कारण नहीं हैं । किन्तु वह रोना नहीं चाहती । शचिबाला कमरे के बाहर निकल गई ।

जयवन्त को आरम्भ से ही इस महिला को लेकर कुछ सोचना पड़ रहा है, इसे वह अपने लिए अच्छा नहीं समझता । शचिबाला यदि

स्वयं कोई रहस्य है भी तो वह उसे जानने का प्रयत्न क्यों करे। वह उसके निकट सुरक्षित है, बस इसी के लिए उसे उसका कृतज्ञ होना चाहिए।

फिर भी आज भोजन के समय वह पूछ ही बैठा कि गृहस्वामी की आयु से इतना असामञ्जस्य होते हुए भी शचिबाला ने उन्हें क्यों वरण किया।

शचिबाला ने उत्तर दिया—"युग-युग से वंश के माथे पर लगे कलङ्क को धोने चली थी, उसी का यह पारिश्रमिक समाज को देना पड़ा। एक नर्तकी का उद्धार करने गृहस्वामी खड़े हो गए यह क्या उसका सौभाग्य नहीं है। मैंने आयु को कभी साधना में अड़चन नहीं समझा।"

"बड़ी भावुक थीं आप।"

"भावुक न भी होती तो मैं क्या कर सकती थी।"

इस 'तो' का उत्तर जयवन्त क्या दे। आयु को साधना में अड़चन न समझने वाले भी सर्वसाधारण में ही होते हैं। वह स्वयं जिस सिद्धान्त को मानता है जीवन में सरासर उसका उल्टा कर रहा है। यद्यपि वह जानता है कि मनुष्य की साधना का थोथा खण्डहर कभी-न-कभी हहराकर गिर ही पड़ता है। उसने शचिबाला से कहा, "यह सिद्धान्त ठीक नहीं। आयु के अनुसार ही साधना करनी उचित है।"

आगे वह चुप हो गया। यहाँ तक आकर भी वह सीमा से आगे बढ़ आया है। निश्चय ही उसे निरञ्जन दादा ने यौन-शास्त्र का विद्यार्थी बनाकर यहाँ नहीं भेजा।

आज भोजन के समय से ही शचिबाला यह सोच रही है कि इन्द्रियों पर प्रभुत्व अथवा उनका दासत्व इतने अस्पष्ट रूप से स्वीकार

करने पर भी वह क्या इस युवक की दृष्टि में निर्विकार रही है। गृह-स्वामी की मृत्यु के इतने शीघ्र बाद ही ऐसे विवाद में पड़ जाना कितना घृणित कार्य है।

साधक की साधना में अड़चन बनकर आने वाला जिस प्रकार क्रोध-भाजन बनता है, उसी प्रकार जयवन्त पर भी शचिबाला को क्रोध हो आया, "न जाने कब निरञ्जन दादा इस युवक से मुक्ति दिलायँगे। गृह-स्वामी की मृत्यु के पश्चात् वह तटस्थ होकर अपने कर्तव्य पर विचार करना चाहती थी किन्तु इस युवक ने आकर ...।" इसी झुँझलाहट में शचिबाला जयवन्त के कमरे की ओर निकल गई। जाते ही उसने उनसे पूछा कि क्या आप बतला सकते हैं निरञ्जन दादा कहाँ गए हैं और कब तक लौटेंगे ?

"वह अपनी गति-विधि किसी को बतलाते नहीं हैं।"

"आपको वह यहाँ किस प्रयोजन से छोड़ गए हैं। यह तो आप अवश्य ही बतला सकेंगे" शचिबाला न जाने क्यों अन्दर-ही-अन्दर कड़ी होती जा रही थी।

"यदि मैं बतला सकूँ ? तो भी बतलाना नहीं चाहूँगा। और मुझे ऐसे प्रश्न उत्तर देना पड़ेगा, ऐसी आशा भी न थी।"

शचिबाला इससे आगे कुछ सुनना नहीं चाहती थी। उत्तर को सुनने के पहले ही वह आगे निकल गई। पुनः लौटकर कमरे के सामने से गुजरी तो खड़ी-की-खड़ी ही रह गई। जयवन्त का चेहरा क्रोध से तमतमा रहा था। अपना थोड़ा-बहुत जो भी सामान था उसे ही एकत्रित करके बाँधने का प्रयत्न वह कर रहा था। अब शचिबाला को पता चला कि अपने मन को झूठा परितोष देने के लिए उसने क्या अनर्थ कर डाला है। ऐसा तो वह कभी नहीं चाहती थी। जयवन्त के निकट आकर

उसने पूछा, "क्या मैं जान सकती हूँ आप किस विचार को क्रियान्वित कर रहे हैं ?"

"मैं आपको आपत्ति से मुक्त करना चाहता हूँ।"

शचिबाला क्या उत्तर दे। उसने अपराध किया अवश्य है किन्तु उसे क्षमा माँगने पर मजबूर करना घोषणापूर्वक अत्याचार है। वह कुछ निर्णय न कर सकी। जयवन्त ने एक बार उसकी ओर दृष्टि उठाकर भी न देखा। सहसा शचिबाला उसकी ओर झुक गई। उसको चिबुक के सहारे आमुख करते हुए बोली, "निरञ्जन दादा के निकट आपको पाकर अपने से दूर न पा सकी। सचमुच अंधकार में हाथ डालना बुद्धिमानी नहीं है।" और जयवन्त की आँखों में देखती रह गई।

कौन है यह उसकी ? और उसको आँखों में क्या है जो उसे गंगा-जल की तरह परिपूत कर रहा है। यह जो घृणा और प्रेम को एक ही दामन का सहारा दिये हैं। क्या उसकी वह उपेक्षा कर सकता है ? यदि करना भी चाहे तो क्या वह उस स्थिति में है। ऐसे कितने ही प्रश्न निमिष-मात्र में उसके मस्तिष्क में दौड़ गए। शचिबाला के नेत्रों से मुक्त होता हुआ वह बोला, "प्रथम भेंट में आपके इतना निकट आना मेरे लिए संभव न हो सका, इसके लिए आप क्षमा नहीं कर सकतीं ?"

"क्यों इसलिए कि शचिबाला नर्तकी प्रथम भेंट में किसी के भी निकट पहुँच सकती है। इसीलिए आपको क्षमा कर दूँ। मेरे इतने बड़े त्याग का भी समाज मूल्य नहीं आँक सका।"

जयवन्त अत्यन्त अप्रतिभ हुआ। शचिबाला को नर्तकी समझकर भी वह रमणी-रत्न समझ सकता है किन्तु जब वह संघर्ष पर तुली हुई है तो फिर उससे कैसे पार पाए। बोला, "शचिबाला ? देवी···!"

"क्षमा करें ? 'देवी' कहकर मेरा उपहास न करें।" और वह खट

खट करती बाहर चली गई। जयवन्त सन्न रह गया। शचिबाला पुनः एकान्त में जाकर सोच रही है, "वह स्वयं भी अपने झगड़ालू अन्तर से पार नहीं पा सकती। बार-बार कोई चीज़ उसे इस युवक के निकट खींचकर ले जाती है और बार-बार वह संघर्ष कर बैठती है। क्या वह उसकी प्रतिक्रियावादिता को स्पष्ट नहीं करता। शचिबाला के अन्तर में असमर्थता मूर्त हो उठी। गृह-स्वामी को माथे पर धारण करके भी क्या वह अस्पृश्य ही नहीं रह गई। निरञ्जन दादा आते हैं तो वह उनका सिर खपा देती है और अब वायु के प्रवाह में उड़े तिनके के समान यह युवक उसके यहाँ चला आया है तो वह इसका समय नष्ट कर रही है।" उमड़ती भावनाओं और कातर मन को बाहों में छुपाकर वह पलंग पर जा गिरी।

जयवन्त इस महिला के व्यवहार से खिन्न नहीं है। वह जानता है कि आकस्मिक आघात के कारण उसका मस्तिष्क ठिकाने नहीं है। उसके प्रति सच्ची संवेदना प्रकट किये जाने की आवश्यकता थी। कुछ देर पश्चात् वह शचिबाला के कक्ष की ओर चल पड़ा। शचिबाला अपने पलंग पर पड़ी थी। तोषक के सहारे रोते-रोते उसकी पलकें झप गई थीं। आँसू की धार उसके कपोलों पर स्पष्ट लीक बना गई थीं। रूप और यौवन की संधि से उसके अन्तर की पवित्रता झाँक रही थी। उसकी ऊर्ध्व देह-यष्टि सिमटकर संकुचित हो गई थी, किन्तु उसके भव्यता और अतुल यौवन की कल्पना करना असभव नहीं था। जयवन्त खड़ा एक-टक उसकी ओर देख रहा है। इस निरीह को धारण करने के प्रति कितना मोह और कितनी आसक्ति उसके अन्दर पैदा होती जा रही है। वह सोच रहा है कि जिस एक को वह अपने चार मित्रों के मध्य अपने हृदय में धारण कर चुका है, क्या वह शचिबाला उसके स्थान को ग्रहण कर लेगी। जयवन्त जो प्रतिज्ञा शपथ के साथ अपने जीवन में कर

चुका है उसके विरुद्ध उसकी मनोवृत्ति क्या उड़ान नहीं ले रही है। उसका मन विरोधी भावनाओं से भर उठा। वह शचिबाला को सान्त्वना देने आया था और अब ऐसा हो गया कि कोई उसी को सहारा देकर उबार ले तो अच्छा।

सहसा शचिबाला उठ बैठी। जयवन्त को सामने देख कर वह और भी सकपका गई। जयवन्त बोला, "क्यों क्या कोई स्वप्न देखा है?"

"हाँ स्वप्न ही देखा है।"

"किसी से युद्ध किया होगा" जयवन्त ने कहा।

"आप ठीक कहते हैं" कपड़े सँवारती हुई शचिबाला पलंग से नीचे उतर आई। "आजकल तो अपने से ही युद्ध करती रहती हूँ। अन्तर में जो-कुछ अपनत्व की संज्ञा से जाना जाता है उसे भी अब सहन नहीं किया जाता। आप कहेंगे कि मैं पुनः संघर्ष को प्रस्तुत हुई। किन्तु मैं जो कहना चाहती हूँ उसे कौन नहीं समझता, पर उसे करता कौन है? जो चीज़ कल्पना में सुन्दर लगती है। वही सत्य होकर कितनी कुरूप हो जाती है।"

"यह तो आपने पहेली बनानी प्रारम्भ कर दी है," जयवन्त ने पुनः हास्य की छटा प्रकीर्ण की।

"आप कहेंगे कि मैं कहना क्या चाहती हूँ? वाणी पर आये सत्य को मैं रोक नहीं सकती। जिस कुल-कलंक को धोने की भावना से मैं भर उठी थी क्या उसे सहारा देने वाला इस समाज में कोई है? क्या स्त्री-समाज का उद्धार करने वाले त्यागी, महाव्रती और कर्मनिष्ठ आपके अन्दर हैं। क्या नर्तकी का उद्धार हुआ" इतना कहते-कहते शचिबाला का हृदय पुनः भर आया।

वह इतना कह कर चली गई। जयवन्त चोट खाये सर्प की तरह तड़पकर रह गया। उसे शचिबाला पर क्रोध हो आया, "कितनी स्वार्थी है

यह युवती ? कितनी तुच्छ होती है नारी !" वह कमरे में घूमने लगा। आवेश से कदम उसके तेज़ पड़ रहे थे। किन्तु अब वह सोच रहा था, 'यह दुनिया कितनी विषम वृत्तियों की क्रीड़ा-स्थली बन रही है। और-उसके अन्दर कुछ मनचले हैं जो कितना कठिन भार कंधे पर उठाकर चलना चाहते हैं।' खिड़की से लगकर वह खड़ा हो गया। उन्मुक्त आकाश में अस्त होता हुआ सूर्य और पीतमुखी सन्ध्या उसके मन में तैर रहे थे।

पीठ पीछे पद-चाप सुनकर जयवन्त जो मुड़ा तो देखा शचिबाला नर्तकी बनकर आई है आँखों में देखती बोल रही है, "एक अन्तिम प्रार्थना लेकर आई हूँ। ठुकराना मत चाहे मन से स्वीकार न भी करना चाहो।"

दोनों चुप रहे।

"आप सोच रहे होंगे मैं आपको पतन के गर्त में ढकेलने आई हूँ। सुनती हूँ कलाकार अपने को प्रभुमय देखता है। अपनी रुनझुन से नर्तकी अमरत्व की रचना करती है। गृह-स्वामी के साथ रहते कभी नृत्य करने को जी नहीं चाहा। आज मैं नृत्य करना चाहती हूँ ?" विकल हो जयवन्त बोला "शचि ? बाले······मसीहा हो या मौत का पैगाम बनकर आई हो ?" प्रणय की मूक और विह्वल भावना से शचिबाला का रोम-रोम दीप्त हो रहा था। जयवन्त परिणय की महानता पर विचार कर रहा था। कितनी एकान्त तल्लीनता दो आत्माओं में उद्भूत हो उठती है। शचिबाला न जाने क्यों डगमगा गई। जयवन्त ने आगे-आगे बढ़कर उसको सँभाल लिया। "जीवन में इतना भावुक होने से काम नहीं चलता शचिबाला। तुम्हारी कला की देवता भी सराहना करेंगे। इतनी सीमित न बनो !"

"मैं सीमित होना चाहती हूँ जयवन्त ! इस जीवन से मुक्त हो जाना चाहती हूँ।"

जयवन्त चुपचाप उसकी पीठ थपथपाता रहा। वह शचिबाला को सीमित कैसे कर दे। उतनी उत्सर्गमयी नारी को वह मृत्यु के पल्ले में कैसे बाँध दे। स्वयं उसका जीवन भी सुरक्षित कहाँ है। परिस्थितियों की ठोकर न जाने कल उसे कहाँ उठा ले जाय। उसने द्रवित होकर शचिबाला से कहा, "शचिबाला तुम मेरी असमर्थता नहीं समझ सकतीं ?" और उसके अन्दर तूफान की गति के साथ जो उठा वैसे ही लौट गया।

× × × ×

शचिबाला इस युवक को हिंसामय वृत्ति से नहीं देखती। न ही अब वह उसका चला जाना चाहती है। किन्तु उसके सामने जाना इसने अब छोड़ दिया है। उसने तिल-तिल घुटना सीखा है। वह इतनी ह्रस्व न बनेगी कि किसी को उसे पतन का कारण पुकारने का साहस हो। निरञ्जन दादा भी ऐसी ही बातें करते थे। रहस्यमयी...? उन्होंने उसे तर्क और दर्शन में फँसाया। उसके भाग्य में ही थोथा दर्शन बदा है।

इस प्रकार एक सप्ताह व्यतीत हो गया। जयवंत भी मानसिक तूफान से निकलकर प्रकाश में आया है। निरंजन दादा का कोई समाचार नहीं आया। शचिबाला भी मन फेरकर बैठ गई। दुनिया में जिसके मन की न करें, वही मन फेरकर बैठ जाता है। आदमी वास्तव में कितना असमर्थ है। पानी के बुलबुले के समान अपने जीवन की रक्षा करने के लिए वह कितने कवच धारण कर रहा है ? यदि उसे जीवन में कुछ करना है तो फिर यह पलायन कैसा ? और शचिबाला

के इस भवन में छिपने से क्या ? वह शचिबाला से अवश्य कह देगा कि वह मृत्यु से खेल रहा है। और वह भी मृत्यु का स्वागत कर सकती है तो···। किन्तु शचिबाला के डबडबाये नेत्र क्या उसे यह सब कहने दे सकते हैं। इसी प्रकार सोचता हुआ वह न जाने कैसे अपना समय व्यतीत कर रहा है।

शचिबाला भी इतने समय में जितना अपने ऊपर सोचती रही है उतना उसने कभी नहीं सोचा। जयवन्त को देखकर पलक के प्रथम निपतन के साथ ही ज्यों इसमें उभार आया था वह तूफान के पश्चात्-गामी सन्नाटे के समान साँय-साँय बनकर ही रह गया है। यदि वह उसकी प्रतिष्ठा नहीं कर सका तो वह इसके लिए दुखी नहीं है। वह अब तटस्थ हो गई है। असमर्थ को वह कभी मजबूर न करेगी। अब वह अन्तर से गल गई है। अब बचा ही क्या है जो अकड़कर खड़ा रहे।

विचारों से आन्दोलित मस्तिष्क और भावनाओं से आवृत क्षणों में आज उसे निरंजन दादा का पत्र मिला है। यह निरंजन दादा का दूसरा अभिनय उसके जीवन के रंगमंच पर हुआ है! उसकी स्मृति अतीत की ओर दौड़ जाती है। अपने जीवन में किसी का अहित न करने का प्रण अग्नि के समक्ष किया था। वह कभी अपने रूप और कला का सौदा न करेगी। तब का निरंजन समाज को दुर्धर्ष सीमाओं को अपने वज्र करों से खण्ड-खण्ड करने के लिए सन्नद्ध था। उसका प्रेम शचिबाला को प्राप्त था। किन्तु शचिबाला जानती थी कि वह उस युवक के अमूल्य जीवन को आहुति पर चढ़ा रही है। यदि वह स्वयं त्याग कर सकती है तब फिर ? साधना के लिए आयु का ही क्या निहोरा। प्रेम की मर्यादा परिणय तक ही तो निहित क्यों हो ! वह नर्तकी न बनेगी। निरंजन को अधिक व्यग्र देखकर ही उसने गृह-स्वामी

से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। अब वह समाज की वधू हो गई थी। निरंजन को जो भावनामय पत्र उसने लिखा था वह आज तक उसे याद है और निरंजन के प्रत्युत्तर स्वरूप शब्द वह कैसे भूल जाती। "साधना के लिए परिस्थितियों की अवहेलना न करके अनुपम आदर्श तुमने आज मूर्तिमान कर दिया है। आज से मेरा जीवन राष्ट्र की सेवा के लिए अर्पित है।" उस समय से निरंजन मात्र एक युवक न रहकर निरंजन दादा हो गए। और तभी से उसे हमेशा निरंजन दादा से बल और प्रेरणा मिलती रही है। किन्तु अब गृह-स्वामी की मृत्यु के बाद की बेचैनी यह स्पष्ट कर रही है कि इस त्याग के लिए शचिबाला ने भारी मूल्य चुकाया है। अपने अन्तर के कोमल किसलय को वह असन्तुष्ट माली की तरह किस प्रकार मसलती रही है, वह सब इस युवक के सन्मुख आकर प्रकट हो उठा है।

आज फिर उसी निरंजन का पत्र आया है। यह प्रकरण आज फिर उसी निरंजन ने उसके जीवन में जोड़ दिया है। किन्तु आज तक जब उसने अपनी आहुति चढ़ाई है तो प्रबुद्ध होकर वह अपने-आपको क्यों खो दे। दादा के पत्र में लिखा है—

"स्नेहमयि बहन·····?"

पुनः पत्र बन्द कर देती है। हृदय न जाने क्यों धक-धक कर उठा है। "न जाने क्या लिखा होगा इस पत्र में, न जाने क्या लिखा हो" परन्तु पत्र खोलकर उसने पुनः सामने रख ही लेती है। "·····उस दिन सन्ध्या-काल में अकस्मात् तुमसे भेंट हो गई। मुझे वास्तव में तुम-जैसे विश्वास-पात्र की उस दिन कितनी आवश्यकता थी। गृह-स्वामी के पास जाकर तुमने मेरे साथी का भार अपने ऊपर ले लिया, इसके लिए मैं कितना कृतज्ञ हूँ। गृह-स्वामी के समाचार शुभ होंगे, ऐसी कामना कर रहा हूँ। नारी स्वयं ही त्याग और संयम की प्रतिमा है, उस पर

भी तुम-जैसी अनुराग और मंगलमयी महिला दुःख से पीड़ित हो तो दुर्भाग्य……?

एक अमानत तुम्हारे पास छोड़ आया हूँ। यह मेरी व्यक्तिगत अमानत नहीं वरन् राष्ट्र की अमानत है। इस अमानत को सुरक्षित रखकर तुम जो कार्य करोगी वह राष्ट्र के लिए कितनी महान् सेवा है। अधिक भेंट होने पर।

तुम्हारा—

निरञ्जन"

इस पत्र को पढ़कर शचिबाला चुपचाप अन्तरिक्ष की ओर ताकती रही। भावनाओं की हल्की फुहारों से आत्म-ग्लान की मलिनता धुल गई। वह इस अमानत पर विचार कर रही है-राष्ट्र की अमानत? क्या जयवन्त ने भी निरञ्जन दादा की तरह राष्ट्र-सेवा का व्रत लिया है। "शचिबाला भी तो साधना कर रही है किन्तु इन दोनों साधनाओं में उतना ही अन्तर है जितना भूख हड़ताल और उपवास में। आज वास्तव में जयवन्त से होने वाले वार्तालाप का सिंहावलोकन करके वह स्वयं लजा रही है। "कोई समय था जब शचि का इन्द्र बनने के लिए लोग तप किया करते थे और अब शचि की प्रार्थना करने पर भी लोग इन्द्र का स्थान ग्रहण करने में असमर्थ हैं। युवक तुम धन्य हो। मैंने तुम्हें हृदय से ग्रहण किया, शचिबाला सुन्दरी ने तुम्हारे त्याग पर अपना अनन्त सौन्दर्य उँडेल दिया है!"

शचिबाला के हृदय में आत्म-प्रतारण के जो परोक्ष भाव उठे थे वह उसके अन्तस्तल से हट गए। उस व्रती के दर्शन करने की लालसा बलवती हो उठी। किन्तु जयवन्त के निकट जाने में वह उसी प्रकार लजा उठी जैसे कोई बाला बचपन के साथी से पाणिग्रहण का समाचार सुन-

कर लजा जाय। वह जयवन्त से बहुत-कुछ कहना चाहती है किन्तु कैसे कुछ कहे। कम-से-कम अपने दुर्व्यवहार के लिए तो अवश्य ही क्षमा माँगेगी किन्तु वह कैसे उसके सामने जाय। कोई उत्तम उपाय न मिलने पर उसने निरञ्जन दादा का पत्र अपने चार शब्दों के साथ जयवन्त के कमरे में पहुँचा दिया।

निरञ्जन दादा का पत्र पढ़कर जयवन्त ने शचिबाला का पत्र भी खोला "अब न ज़ाने कितने समय आप यहाँ और रह सकेंगे। मुसाफिरों का क्या भरोसा? कब किधर कदम उठ जायँ। न जाने इस जीवन में फिर मिलना भी हो। इतने दिन अपनी व्यक्तिगत उलझनों से आपके मस्तिष्क को अशान्त रखा। इस अपकार्य के लिए क्षमा चाहती हूँ।

—शचिबाला"

इस पत्र ने जयवन्त के हृदय में विचित्र स्थिति पैदा कर दी है। शचिबाला के पत्र की मायूसी जैसे वह अपनी निष्ठुरता की प्रतिक्रिया समझ रहा है। जिस व्यक्ति का अपने अन्तर में प्रवेश करना वह निषिद्ध समझता था आज उसी से अलग होने की कल्पना करके वह न जाने क्यों व्यग्र हो उठा है। वह सोचता है कि शचिबाला ने उससे अलग होने पर न जी सकने की चेतावनी क्यों नहीं लिखी इस पत्र में। वह यह भी सोच रहा है कि यह नई भावना क्या आजादी के प्रण का विपर्यय नहीं है। किन्तु उसके प्राणों में यह जो नई दुनिया बस गई है उसका विध्वंस वह किन हाथों से करे। जो दुनिया बसाये बसी नहीं वह उजाड़े कैसे उजड़ सकती है। क्या शचिबाला उसके साथ जीवन-मरण में नहीं खेल सकती। हमारे पूर्वजों ने तो एक कान से नूपुर और एक से शस्त्रों की झंकार सुनना भी सम्भव कर दिखाया था। किन्तु क्या वह इतना भी नहीं कर सकता। वह अनुभव कर रहा है कि शचिबाला उसे

अपना न समझकर अन्याय कर रही है। अब वह शचिबाला के बिना चैन से नहीं रह सकता।

जयवन्त शचिबाला के हृदय से यह भाव निकाल देना चाहता है कि वह उसके अब तक के व्यवहार से असन्तुष्ट था। वह शचिबाला के कक्ष में जब गया तो वह एकाग्रचित्त कुछ काढ़ रही थी। जयवन्त को देखकर उसने उसे छिपा लिया। आगे बढ़कर प्रसन्न वदन उसका स्वागत किया।

जयवन्त ने बैठते हुए सीधा प्रश्न किया "शचिबाला ! क्या तुम मुझे इस घर से निकाल देना चाहती हो जो मुसाफिर कहा है। मैं कभी नहीं जाऊँगा।"

शचिबाला उत्फुल्ल मन से हँस पड़ी, "जाना तो आपको पड़ेगा ही। अमानत को कोई कैसे रख सकेगा।"

"नहीं मैं किसी की अमानत नहीं हूं। अपना कर्त्तव्य-निर्धारण करने में स्वतन्त्र रहा हूँ। और यहाँ रहना चाहता हूं।"

"यदि अनजाने शचिबाला उस रास्ते में आ गई है तो वह सहर्ष अपने को हटा लेगी। यदि वह जीवन में स्वयं किसी काम को न बन सकी तो, किसी अन्य के कन्धों का भार भी क्यों बने ?"

"शचिबाला मेरी असमर्थता स्वीकार करो।"

"आपको कैसे बताऊं कि आपकी कल को असमर्थता से कैसी ग्लानि पैदा हुई थी। आज की आपकी असमर्थता से मैं कितनी गौरवान्वित हो रही हूं। लेकिन अमानत में खयानत कैसे कर डालूँ। आपने जिस ध्येय की प्राप्ति के लिए व्रत धारण किया है इसकी उपलब्धि कल ही हो जाय तो न जाने मैं क्या कर डालूँ। लेकिन आज मैं आपको सीमा

में नहीं बाधूँगी।"

"किन्तु शचिबाला क्या मालूम उस ध्येय की पूर्ति कभी इस जीवन में हो? दुर्बलता की टेक के रूप में ही तुम्हारा सहयोग चाहता हूँ। बल चाहता हूँ।"

"तो क्या बल देने की शक्ति सीमा ही में है। मैं अपने हृदय की शपथ खाकर कहती हूँ कि आपके पुनीत कार्य में अपनी सच्ची भावना और प्रेरणा दूँगी। बाल पकने पर भी आपके सफल होकर आने की बाट जोहती रहूँगी। यदि इस जीवन में सफलता न मिली तो अगले जीवन में आपकी प्रतीक्षा करूँगी, मुझमें विश्वास कीजिये।"

"शचिबाला, अपने को धोखा देकर कभी आगे नहीं चला जा सकता। तुम नहीं जानती...।" जयवन्त न जाने क्या कुछ कहना चाहता है। किन्तु बात होठों पर ही आकर रुक जाती है। शचिबाला ने जो कुछ कहा है वही उसे वाञ्छित था। शचिबाला क्या उसके हृदय की बात समझ सकती है। जयवन्त आश्चर्य-चकित रह गया जब शचिबाला ने कहा, "सीमा में तुम्हें बाँध ही लिया है। अब दुनिया का दिखावा भी करना चाहते हो। मुझमें इतना अविश्वास न करो। स्वातन्त्र्य-संग्राम करते-करते शायद मैं सीमा से बाहर चली जाऊँगी, क्यों? जयवन्त बाबू परिणय का उत्सर्ग दो व्यक्तियों के स्वार्थ की सीमा में ही बँधा होगा। मुझे साथ लेकर शायद तुम्हें एक और प्रण करना पड़े। क्या तुम उसकी कल्पना कर सकते हो?"

"नहीं", जयवन्त ने स्वीकार किया।

"यह प्रण होगा कि हम राष्ट्र की आजादी से पहले कभी सन्तानोत्पत्ति की इच्छा न करेंगे। और न जाने ऐसे कितने ही और भी सहायक प्रण? जयवन्त बाबू प्रेम को उपहासपद बनाने का उपक्रम न करो। अपने कर्तव्य में अविश्वास ही तुम्हें इस कीचड़ में फँसा रहा है।

स्वस्थ मन से संग्राम चलाओ। मेरी आत्मा तुम्हारे पथ की लीक बनेगी। मुझे अपने से पृथक् मत समझो।"

"शचिबाला……" जयवन्त के हृदय से एक दीर्घ निश्वास निकल गया। माथे पर हाथ रखकर वह कुर्सी पर पैर पसारकर लेट रहा। और विचारों की दुनिया में घूमता-घूमता सो गया। शचिबाला आज अपने को धन्य समझ रही है। आज वह इस युवक को ठीक देख पाई है। कितना सरल, कितना सौम्य, कितना सच्चा वह है। यकायक स्नेह की बाढ़ उसके हृदय में उमड़ आई। जयवन्त के माथे पर उसने एक चुम्बन ले लिया। इससे अधिक राष्ट्र की अमानत का वह अपने हित में प्रयोग न करेगी।

फिर निरञ्जन दादा भी आ गए। शचिबाला ने जयवन्त की अतुल प्रशंसा की और शचिबाला के त्याग और अनुराग की जयवन्त ने भी उतनी ही प्रशंसा की। शचिबाला ने न जाने क्या पा लिया है कि प्रसन्नता के मारे हृदय आँखों में उमड़ा पड़ता है। निरञ्जन दादा नहीं समझते कि यह शोक है या प्रसन्नता। किन्तु जयवन्त जानता है। विदाई की रात्रि निकट आती जा रही है। और आखिर आ ही गई। चलते समय शचिबाला का सिर जयवन्त के कन्धे से टिक गया। अपने आँचल से रूमाल निकालकर देते हुए कहने लगी--"अपने लक्ष्य की प्राप्ति में कभी पीछे न हटना। कभी समय मिले तो हमारी भी याद कर लिया करना। इसलिए यह भेंट दे रही हूँ।"

जयवन्त कुछ न बोला। उसकी आँखें डबडबा आईं। और रात्रि की पुनीत चन्द्रिका में वे फिर दोनों यात्री चले गए। निरञ्जन दादा अपने साथी को साथ ले गए। और शचिबाला? उसे भी क्या! किसी की अमानत थी वापिस चली गई।

८

हरी चुनरी

"आ··खा·····कौन कलाकार जी हैं क्या ?" अकस्मात् किसी ने मेरी पीठ पर हाथ मारते हुए कहा। मैं चौंक गया। ट्रेन पर भीड़ अधिक थी और मैं बैठने योग्य स्थान पाने के लिए बेतहाशा दौड़ रहा था। मैंने पीछे मुड़कर देखा और उन सज्जन को न पहचानकर भी देखता ही रह गया।

हाथ जोड़ कर "ओ हो पहचाना नहीं दोस्त ने। अरे भई, मैं हूँ तुम्हारे दोस्त किशोरीलाल का भूत" और मेरे हाथ को आगे खींचकर किशोरी-लाल ने बड़ी गर्माई के साथ दबाया।

"अरे··रे। माफ करना भाई किशोरीलाल। वाकई नहीं पहचान सका। ठीक कहा बहुत दुबले हो रहे हो?"

"पर हमें तो इस दुबलेपन की कोई फिक्र नहीं। तुम चाहो तो और एक-दो मिनट मातम कर लो।"

किशोरीलाल के चेहरे पर हँसी फूटी कि इधर मैं भी अपनी मुस्क-राहट न छिपा सका। मैंने कहा, "कहो तो इधर कैसे ?"

"अपनी जिन्दगी का तो इधर-उधर ही मामूल बन गया है। मगर आप बताइए आप कहाँ ? तुम्हारे गालों पर जो पुरानी सुर्खी बासी होने के बजाय और निखर गई है। इसका मतलब हुआ कि हिन्दुस्तान में अब कलाकारों की पूछ होने लगी है।"

किशोरीलाल के इस व्यंग को आप नहीं पहचान सकते। ऐसी चोटें ये लड़कपन से करते हैं। मैं तो किशोरीलाल को तब से जानता हूँ जब वह मेरे साथ स्कूल में पढ़ते थे। क्लास-रूम में खिड़की के पास उनके बैठने की आदत थी। उनका भरा हुआ चेहरा उस वक्त और भी उभर जाता था जब हेडमास्टर इस बड़े लड़के को छोटी खिड़की में खड़ा करते थे। पर किशोरीलाल के चेहरे पर कभी शिकन नहीं आई। उलटे वह कहता कि खिड़की के पास इसलिए बैठता है कि अपने से छोटे लोगों की दृष्टि से संसार को देखने का उसे अवसर मिले।

और आज लगभग दस वर्ष बाद अकस्मात् राजधानी के स्टेशन पर किशोरीलाल जी दीख पड़े। वह चेहरे की सुर्खी और भरा हुआ बदन अब नहीं था। पर गालों की हड्डियों के उभार में अभी तक भी आत्म-विश्वास की झलक थी। दस साल पहले के किशोरीलाल के ऊपरी ओठों पर उठती हुई सुनहरी मसें आज घनी काली होकर न जाने कैसी लगतीं। पर किशोरीलाल ने क्लीनशेव करा लिया था, इसलिए उस कल्पना को मैं आगे न दौड़ा सका। किशोरीलाल मेरा अभिन्न रहा है, उसी का दिया हुआ यह पुराना नाम है—कलाकार। इसलिए उससे अधिक इस नाम की अहमियत और कौन समझेगा। मैंने जिद करते हुए किशोरीलाल से पूछा, "ठीक से बताओ किशोरीलाल कहाँ से आ रहे हो, कहाँ जा रहे हो?"

"राजधानी में ही रेलवे-दफ्तर का क्लर्क हूँ। अगले स्टेशन पर रहता हूँ। चलो मेरे साथ। अपनी झोंपड़ी दिखा लाऊँ।" किशोरीलाल ने कहा।

"हाँ-हाँ जरूर देखूँगा किसी दिन। आज तो एक जरूरी काम से आया था। घर लौटना जरूरी है। अब जल्दी-जल्दी इधर से आना-जाना होगा। अब चलो कहीं बैठने की जगह देखी जाय।" मैंने कहा!

"अरे जगह की क्या पर्वाह की आपने, यह सारी गाड़ी अपनी ही है। जरा पहले देख लें कहां बैठा जायगा।"

"हां हाँ जरूर कितनी भीड़ है। किस दर्जे में बैठने का इरादा है?"

किशोरीलाल ने मेरी बगल में हाथ डालकर ठेलते हुए कहा, "अपना टिकट दर्जे का मोहताज नहीं है जनाब, दर्जे में बैठने वालों का मोहताज है।"

"बड़े तेज हो गए हो किशोरीलाल जी!"

"जी हाँ। क्लर्की में घिसते-घिसते सिर्फ धार ही बाकी रह गई है। पर किशोरी की इस तेजी को या तुमने पहचाना या एक बार और किसी ने पहचाना था। बाद में तो जंग लग गया इस धार पर।"

"तो क्या किसी की मुहब्बत का शिकार हो गए हो। मेरी कसम बताओ कौन खुशनसीब थी वह।"

"अरे तुम तो पीछे ही पड़ गए भाई! चलो तुम्हारे लिए भी खोजता हूँ एक।"

मैंने आगे जिद नहीं की, पर किशोरीलाल के साथ रहकर गाड़ी की भीड़ से भय लगना बन्द हो गया था। यहां तक कि मैं भी चुनाव करना चाहता था कि कहाँ बैठना उचित होगा। किशोरीलाल वह चुनाव रोज करता है इससे मन-ही-मन में ईर्ष्या कर रहा था। और बिना बताए भी किशोरीलाल के उस अदृश्य रोमांस की कल्पना कर रहा था।

किशोरीलाल जल्दी-जल्दी कदम रखते हुए गाड़ी के कई चक्कर लगा गया। वह जगह-जगह रुककर अपने सौन्दर्य-बोध का परिचय दे रहा था। मुसाफिरों के आकार, गठन और मुखाकृति देखकर, वह उनकी खसलतें बता रहा था और वे निश्चय ही किसी विशेषज्ञ की भविष्य-

वाणी से कम न थी। मैंने किशोरीलाल से पूछा, "क्या अभी कोई बैठने लायक जगह नहीं मिली किशोरीलाल जी ?"

"आज तो गाड़ी पर कौवे बरस रहे हैं कौवे।" किशोरीलाल ने ऐसी झुँझलाहट में कहा कि पास के सैकिण्ड क्लास में बैठी एक ईसाई महिला बौखला गई और आँख फाड़कर किशोरीलाल की ओर देखती रह गई।

मैंने किशोरीलाल को टोकते हुए कहा, "क्यों फब्तियाँ कसते हो किसी पर।"

"कौन कहता है हम बुरा करते हैं, अरे भाई ? यही तो जगह है जहाँ दिल पर कुछ रौनक आती है। हम भी किसी को खुशी में अपनी खुशी और किसी की खूबसूरती में अपनी खूबसूरती देख लेते हैं। क्या बेजा करते हैं ?"

आगे किशोरी ने पुराने अभ्यस्त कई उर्दू के शेर सुनाए, जो उसकी तबीयत की तरह ही शोख थे। मुझे पुनः बेसब्री हो रही थी कि कहीं गाड़ी न छूट जाय। मैंने किशोरीलाल से कहा, "कोई बैठने लायक जगह खोजी आपने ?"

"हाँ खोज ली है। चलो दिखाता हूँ।" हम दोनों एक तीसरे दर्जे के डिब्बे के करीब आकर खड़े हो गए। किशोरीलाल बोला, "देखो सामने वह 'हरी चूनरी' आज तुम्हें ग्रामीण सौन्दर्य का दर्शन कराऊँगा।"

मैंने कहा, "किशोरीलाल जी कई सेकिण्ड क्लास भी अच्छे थे पीछे। वह नहीं जँचे।" मुझे अपने टिकट का पुनः ख्याल आ गया था।

"क्या सेकिण्ड क्लास की बातें करते हो यार। क्रीम, पाउडर और मेक-अप के सिवा और क्या है वहाँ, आज देखना ? जब कभी कविता करने बैठोगे, हमें दुआएँ दिया करोगे।" किशोरीलाल ने कहा।

"मालूम पड़ता है आप पहले देख चुके हैं उसे," मैंने कहा।

"अरे, यार लोगों का अन्दाज ही कभी खाली नहीं गया। आ··· खा···हलवाई के ताजे खजले की-सी मिठास, सेब की-सी सुर्खी। मिष्टान्न और फलाहार साथ-साथ।"

आगे किशोरीलाल अपने पुराने अनुमानों की बातें सुनाने लगा जो किसी प्रगतिशील उपन्यास के फुटकर अंशों से कम रोचक न थी। मैंने कहा, "तो फिर चलकर जमा जाय।"

"ये जमने की भी एक ही कही आपने। गाँव वालों से नम्रता से बातें करो और उनके यहाँ चाहे कहीं जमो। मैं तो उनसे बड़ी प्यार की बातें करता हूँ। आज तुम्हें सटकर ही बैठना है उस हरी चुनरी वाली से। क्या कहोगे तुम भी।" किशोरीलाल जी की बातों से मैं आतंकित हो रहा था, पर उनके चेहरे पर जवानी लौटती नज़र आ रही थी। हृदय की पूरी सचाई के साथ उस हलचल में वह तन्मय थे।

आखिर सिगनल की बत्ती हरी हो गई। पीछे गार्ड की सीटी भर्राई और इंजिन भाप उड़ाने लगा। साथ ही बाहर खड़े लोग गाड़ी पर टूट पड़े। मैंने सब्र की आखिरी सीमा पर आते हुए कहा, "अब तो अन्दर चलिए बाबू किशोरीलाल जी! मुझे बेहद जरूरी काम से जाना है। कहीं ऐसा न हो कि प्लेटफार्म पर ही खड़ा रह जाऊँ।"

तो डिब्बे के डण्डे पकड़ते हुए किशोरीलाल ने कहा, "भली कही भाई साहब आपने भी। ऐसे खड़े रह जायँ तो कर ली नौकरी हमने तो।"

इतना कहकर किशोरीलाल जी डिब्बे के अन्दर चलने लगे। भीड़ में धँसना कितना मुश्किल था। पर किशोरीलाल जी एक मिशनरी के

उत्साह से बाधाओं को पार करते हुए लक्ष्य तक पहुँचने में व्यस्त थे। मैं भी पस्त-हिम्मत नहीं होना चाहता था किन्तु फिर भी काफी पीछे पिछड़ गया। तब तक किशोरीलाल जी अपने मंजिले-मकसूद तक पहुंच चुके थे। लेकिन मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ किशोरीलाल जी को ऊँची आवाज में बोलते सुनकर। मैं लपककर आगे बढ़ा, देखा किशोरीलाल जी एक ग्रामीण वृद्ध की ओर आमुख होकर कह रहे हैं, "जमीन पर पैर रखकर बैठिए। आखिर दूसरों के बैठने के लिए भी जगह देनी चाहिए।"

मैंने देखा कि उस हरी चुनरी के नीचे से दो खडंक पैर बाहर निकले और सीधे बाबू किशोरीलाल जी के पतलून पर पड़े और ऐसे उभर आए जैसे किशोरीलाल कहीं से लात खाकर लौटे हों।

सचमुच ओढ़नी के नीचे से बूढ़ा आदमी खाँसता हुआ, उनसे क्षमा-याचना कर रहा था। उसके नेत्र इंच भर गहरे कोटरों में धँस गए थे और चमड़ी पर अमचूर-जैसी पपड़ी उभर आई थी। "बाबू जी मेरी आँखें दुक्खें हैं। चौंध से बचने के लिए छोकरी की उढ़नियाँ सिर माईं डाल लई थी। उतारने मांई अटक गई आँखन पै।"

"अटक गई तो ओढ़ काहे रखी थी यह हरी चुनरी। अगर तुम बीमार हो तो सारी दुनिया को रौंदने का हक मिल जाता है तुम्हें?"

बूढ़े की करवट में एक बालिका घबराई-सी बैठी थी और उसने अपनी चुनरी दादा के कन्धे से खींचकर गोद में दबा ली थी। बूढ़ा बाबू किशोरीलाल को बैठने के लिए स्थान दे रहा था लेकिन बाबू किशोरीलाल थे कि आग हुए जा रहे थे।

मैंने आवाज देकर पूछा, "क्या हुआ भाई साहब!"

"अजी हुआ क्या भाई साहब, अहमक ने सारी पतलून खराब कर डाली। अभी कुछ कहने लगूँ तो लोग कहेंगे पढ़ा-लिखा आदमी होकर गरीब पर हाथ उठाता है।"

लेकिन किशोरीलाल केवल खीसें निपोरकर मेरी तरफ देखते रह गए। उनके चेहरे पर सर्दियों के मौसम में भी पसीने की बूँदें साफ झलक आई थीं।

६

सिगार वाला

बादल की हल्की गड़गड़ाहट ने जोहरा का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया। उसने ज्यों ही मुँह ऊपर उठाया कि एक बड़ी बूँद उसके माथे पर आकर पड़ी। उसके शरीर में शीतलता की एक हल्की थर-थरहरी दौड़ गई। सामने डलिया में रखे सिगारों की धूल उसने अपने कन्धे पर रखे तौलिये से झाड़ी और चेहरे पर क्रोध के भाव लाकर वह बड़बड़ाया—"ईश्वर, कहर पड़े इन पर, कितना गुबार उड़ाती हैं यह लारियाँ?"

इतने में दूर से आती हुई मिलिटरी-लारियों की घहराहट उसके कानों में पड़ी और धूल उड़ती हुई दिखाई दी। अपने दिल के भावों पर संयम करके उसने बैठने की कोशिश की।

निकट आकर लारियाँ रुकीं। वायु के वेग से ढेर-सी धूल और कंकड़ियाँ उसकी आँख और डलिया में आ गिरीं। प्रत्येक लारी में से एक-एक जवान उतरकर आया। अच्छे-अच्छे सिगार लेकर जौहरा आगे खड़ा हो गया, "यह देखिए हुजूर, यह असली बर्मी-सिगार। देखिए इन्हें, अपने दोस्तों और रिश्तेदारों को भेजिए। आपके तोहफे बहुत पसंद किये जायंगे।"

बनावटी मुस्कराहट में एक बेचैनी और प्रकाश मिलकर उसके गालों के उभार में भर गया।

नौजवानों ने उसकी बर्मी-भाषा को ठीक-ठीक न समझ पाने पर भी उसके चेहरे पर लिखे भावों से जाना कि वह अपने सिगारों की तारीफ कर रहा है।

सैनिकों ने अपने सुन्दर पर्स खोले और आन-की-आन में जोहरा के सब सिगार साफ़ हो गए। लारियों के चले जाने के पश्चात् उसने उन चमकते हुए सिक्कों को मुट्ठी में लेकर जोर से दबाया। हर्ष के कारण उसका सीना कंधों की बराबरी तक उभर आया। एक लम्बा साँस लेकर वह घर की ओर फिरा। अनजाने कोई गीत गुनगुनाते उसके मुँह से निकल गया—"ईश्वर करे यह लड़ाई हमेशा चलती रहे। नीकोई के लिए अब की बार कर्णफूल और रेशमी गाउन तो बन जाएंगे?"

वह आगे चल पड़ा, एक छोटी-सी बदली से हलकी फुहारें चू पड़ीं। खुश्क रेत पर वह बूँदें ऊपर को सिकुड़ गईं। ऐसा लगता था कि उसकी बातें सुनकर पृथ्वी को सिहरन आ गई है।

दरख्तों के पत्तों पर पानी की बूँदें साफ़ चमक रही थीं और वह उस सीलनदार रेत में अपने पद-चिह्न छोड़ता हुआ चुपचाप चला जा रहा था।

जोहरा के मकान के सामने एक प्राकृतिक उपवन था। नीकोई के कहने पर उसने वह झाड़-झंखाड़ साफ़ करके एक पतली-सी सड़क गाँव के निकट से गुजरने वाली सड़क से मिला दी थी। नीकोई ने उसे दोनों ओर से फुलवाड़ी से सजा दिया था। शहर में उसके घर पर बाग़वानी का काम होता था।

वृक्षों की ओट से निकलकर जोहरा जब अपनी सड़क पर आया तो उसने देखा कि उसकी नीकोई दरवाजे पर खड़ी उसकी बाट जोह रही है। उस वक्त जोहरा अपने दिन-भर की भूख, प्यास और थकान को

भूल गया । उसका मन नीकोई के लटकते हुए कर्णफूलों की चमक में खो गया । आज वास्तव में उसने नीकोई के प्रेम और साहचर्य की महत्ता को अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया ।

निकट आने पर जोहरा ने सिगारों की डलिया एक ओर रख दी और लपककर उसने नीकोई को बाहें पकड़ लीं । पति के प्रसन्नता से खिले चेहरे को देखकर नीकोई को बेहोशी-सी आ गई और वह उसकी बाहों में झूल गई । कुछ देर तक दोनों एक सात्विक सुख का अनुभव करते रहे । उसके बाद दोनों हाथ में हाथ डालकर अपने दरवाजे पर खड़े हो गए । कुछ देर तक सोचते रहने के पश्चात नीकोई बोली—"देखो जी, जमीन से कैसी महक निकल रही है ।"

"हाँ, बूँदे पड़ी हैं न ?" उसने नीकोई का समर्थन किया, "देखो न, रेत में तुम्हारे पैरों की रेखाएँ तक साफ़ आ रही हैं। कोई भी आदमी इन निशानों को पहचानता हुआ यह जान सकता है कि तुम कहाँ से चली हो ।"

कुछ देर तक दोनों चुपचाप खड़े रहे । सिगारों की डलिया उठाने जोहरा जो चला, तो नीकोई ने बाँह पकड़कर रोकते हुए उससे कहा, "देखो न ?" उसने सागौन के वृक्ष की एक शाखा की ओर इशारा किया, "अभी-अभी बयाओं ने इस वृक्ष पर अपना घोंसला रखा था । बच्चों के कुलमुलाने की आवाज सुनते हो ।"

फिर दोनों साँस बन्द करके और कान देकर उनकी कुलमुलाहट को सुनते रहे । हल्का-सा आभास पाकर नीकोई एक रहस्यपूर्ण दृष्टि से जोहरा की आँखों में ताकने लगी । जोहरा बाहें पकड़कर उसे अन्दर ले गया ।

पलंग पर बैठकर नीकोई बोली, "आज तो फौजियों ने परेशान नहीं किया ? सड़क पर बैठने से रोका तो नहीं ?"

"नहीं तो, सभी फौजी एक-सी तबीयत के नहीं होते हैं। यह तो बादशाह लोग होते हैं नीकोई, जी में आए घर फूँक दें, जी में आए निहाल कर दें।" कहते-कहते उसने अपनी जेब में से दिन भर की बिक्री निकालकर नीकोई के हाथों में रख दी। नीकोई के नेत्र एकदम प्रकाश से चमक उठे। सिक्कों को यत्न से गाउन में रखकर जोहरा के पास सिकुड़ती हुई वह बोली, "देखो जी, गाँव में अफवाह है कि हमारे मुल्क में शत्रु ने अपने हवाई अड्डे बना लिए हैं। तब तो यह जालिम तमाम देश को जलाकर खाक कर देंगे। और हमारी तम्बाकू की खेती का क्या होगा?"

उसकी बात सुनकर जोहरा ने एक बार अपनी बढ़ी हुई दाढ़ी खुजलाई, फिर चुपचाप कुछ देर तक सोचता रहा और बोला, "क्या वे भाग रहे हैं हमारे पड़ोसी लोग?"

"हाँ वह भागना चाहते हैं।" नीकोई ने कहा।

"मूर्ख हैं? कोई फायदा नहीं? भागकर कहाँ जायँगे। भागे हुए की रक्षा करने के लिए कौन बैठा है?"

इतना कहकर वह फिर विचार-निमग्न हो गया। नीकोई बराबर उसके चेहरे को देखती रही। फिर वह बोला, "नीकोई हम अपने घर में तहखाना क्यों न खोद लें।"

"तहखाना?" नीकोई ने आश्चर्य से कहा।

"हाँ-हाँ तहखाना। अभी तो काफी वक्त है। खतरे के समय हम तहखाने में मौज से रह सकते हैं।"

नीकोई की समझ में बात आ गई। उस दिन से निकोई और जोहरा दोनों तहखाना तैयार करने में लग गए। जोहरा जंगल से चीड़ की लकड़ी काटकर लाया और उन्होंने तहखाने बनाकर उस पर ऊपर से पत्थर

और कंकरीट बिछा दी। अन्दर जाने के लिए एक कच्चा जीना और वायु के लिए दो खिड़कियाँ रख लीं।"

इस कार्य से निवृत्त होकर जब उन्होंने सन्तोष की साँस ली तो सुना कि इस बीच में मौलमीन पर कई हमले हो चुके हैं, अब आसमान में हर समय वायुयान उड़ा करते हैं और उसके कान उस आवाज के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि हर समय उन्हें घनघनाहट की आवाज सुन पड़ती है।

एक दिन जोहरा सिगार लेकर सड़क पर पहुंचा तो उसने देखा कि फौजी लारियाँ बहुत तादाद में लौट रही हैं। बन्द होने के कारण न उनमें उसे कुछ दीख पड़ता है और न कोई सैनिक आकर अब उसके सिगार खरीदता है।

एक बार कार में बैठकर एक अफसर उधर से गुजरा। जोहरा को बैठे देखकर वह रुका और उधर बढ़ा। जोहरा ने अपने सिगार सामने पेश कर दिए। अफसर ने कहा, "तुम किसके हुक्म से यहाँ रह रहे हो।"

"हुजूर मेरा घर है यहाँ।"

"मैन", अफसर की समझ में उसकी भाषा नहीं आई, किन्तु उसने अपनी बात आगे बढ़ाई, "मोर्चे के बीच में आने के कारण यह स्थान खतरनाक हो गया है। तुम अपनी जान और माल के स्वयं जिम्मेदार हो।"

"सैनिकों से पाला पड़ने पर जोहरा अंग्रेजी भाषा अब कुछ समझने लगा था। किन्तु इस बार वह खाली दिमाग अफसर के चेहरे को ताकता रहा। "सुना यहाँ से भाग जाओ ?"

"हुजूर मेरी नीकोई है और तम्बाकू की खेती," वह गिड़गिड़ाया, "ओह ? तुम बड़े बेवकूफ मालूम पड़ते हो" अफसर ने अपनी भाषा में कहा और एक लाल कागज पर छपा उसकी भाषा का घोषणा-पत्र निकालकर उसे दिया और आप अपने सफेद फ्रेम के रंगीन चश्मे को ठीक करता हुआ कार में जा बैठा। जोहरा ने उस परचे की ओर ताककर एक बार धूल उड़ाती हुई कार की ओर देखा और जल्दी से वह पर्चा नीकोई को दिखलाने की गरज से घर की ओर रवाना हो गया। शाम हो चुकी थी। दूर पश्चिम में ललाई छा गई थी और जोहरा अपने डगमगाते पैर घर की ओर फेंक रहा था।

घर जाकर उसने वह पर्चा नीकोई को दिखलाया। नीकोई ने उसे पढ़ा, जिसका मतलब यों था, 'प्रजातन्त्रीय सरकार इस समय कुछ स्थानों में प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ है इसलिए उनसे आग्रह किया जाता है कि वह अपनी रक्षा का उचित उपाय खोज लें।'

उस दिन शाम को जल्दी ही वह लोग खा-पीकर अपने तहखाने में चले गए। वहाँ उन्होंने छोटा-सा चिराग जलाया। बाहर रोशनी न पड़े, इसलिए उन्होंने खिड़कियाँ बन्द कर लीं। बिस्तर पर पड़कर उन्होंने एक बार पर्चा पढ़ना आरम्भ किया, किन्तु थोड़ी ही देर में तहखाने में उसका दम घुटने लगा।

उसी समय आसमान में हवाई जहाज की घहराहट सुन पड़ी और वह इतनी बढ़ी कि वह प्रयत्न करने पर भी एक दूसरे के शब्द नहीं सुन सके। कुछ देर बाद घहराहट कुछ कम हुई तो जोहरा ने नीकोई से पूछा, "नीकोई हमारा गाँव मौलमीन से कितनी दूर है ?"

"होगा कोई बीस मील।"

"तब तो खैर है नीकोई। वरना एक बम में खेती खत्म है, और

यह तैयार किए हुये सिगार—इनमें भी आग लग जायगी ।" जोहरा बड़बड़ाया ।

"इनमें आग लग जायगी तो हम कहाँ बचेंगे ।" नीकोई ने कहा ।

फिर कुछ देर तक वह चुप रहे । शांत वातावरण में दोनों को एक-दूसरे की आवाज साफ सुनाई दे रही थी । नीकोई के सांस में नींद की आगाही थी । इतने में फिर हवाई जहाजों की घहराहट सुनाई पड़ी । जोहरा की नींद टूट गई । नीकोई को छूकर वह बोला, "शायद अब यह बम-वर्षा करके लौट रहे हैं ।"

नींद से चौंककर नीकोई बोली, "नहीं हमारे घर में आग नहीं लगेगी । देखते नहीं भगवान् की लीला । बाहर पेड़ पर भी तो बच्चे हैं !"

और वह फिर सो गई । तब जोहरा पेड़ पर के बच्चों को याद करके सोचता रहा । नीकोई के मन की वास्तविक अवस्था समझकर उसने उसे जगाना उचित न समझा । वह अन्धकार से भरे तहखाने में आँखें गड़ाकर सोच रहा था, 'नीकोई भी अब बच्चे की माँ होने वाली है । तभी तो उसे बच्चों की याद सताती रहती है । भगवान् तुम नीकोई और उस बच्चे की रक्षा करना ।'

जोहरा फिर नीकोई के गुणों को मन-ही-मन सराहता न जाने कब सो गया ।

सुबह हुई तो जोहरा उठकर बाहर आया । वह अपनी तम्बाकू की खेती देखने गया । उसने देखा कि उसके खेतों के पार कुछ सैनिक किसी वस्तु के चारों ओर घूम रहे हैं । वह उसी ओर बढ़ गया । वह निकट पहुँचा । एक सैनिक ने पिस्तौल निकालकर पूछा, "कौन हो तुम ?"

"मैं······मैं" वह घिघियाकर बोला, "मैं जोहरा हूँ। सिगार वाला ·········मुझे सब जानते हैं।"

"तुम सिगार वाले हो ?" सैनिक ने अपनी भाषा में कहा जिसे जोहरा समझ न पाया। उसकी दृष्टि जले हुए जंगल पर जमी हुई थी।

"तुम क्यों आए हो ?" सैनिक ने टूटी-फूटी बर्मी भाषा में कहा।

"मैं पूछना चाहता हूँ हमारा मालिक अब कौन है ? अब हमारी रक्षा कौन करेगा," जोहरा ने प्रश्न किया।

"तुम्हारा मालिक कोई नहीं और सब कोई तुम्हारा मालिक है" सैनिक ने कहा।

"मेरी तम्बाकू की खेती और मेरे सिगार ?"

"उनका भी कोई मालिक नहीं और सब कोई उनका मालिक है ?" सैनिक का उत्तर था।

"मेरी नौकोई, क्या उसका भी सब कोई मालिक है।"

"तुम्हारी नौकोई भाड़ में जाय। तुम अपने मालिक हो। अपनी नौकोई के भी और अपने सिगारों के भी।"

"तो मैं मुफ्त सिगार बना सकूँगा। लगान······?

"हाँ हाँ सब ठीक है। लो यह पढ़ो।" उसने बर्मी भाषा में छपा एक पर्चा उसके हाथ में दिया। "और तुम हमारे साथ चलो न। वहां तुम्हारे सिगार बहुत बिकेंगे।"

अन्तिम बात सुनकर जोहरा का चेहरा कुछ बिगड़ गया। उसके मन के भावों को देखकर सैनिक बोला, "अच्छा-अच्छा न सही। तुम्हारे बीवी-बच्चे होंगे। तुम्हें उनकी देख-भाल करनी होगी। लो यह पर्चे

लो इन्हें अपने गाँव में बाँट देना।" उसने कुछ और पीले पर्चे निकाल कर जोहरा को दिये।

जोहरा उन पर्चों को नीकोई को दिखाने के लिए जल्दी से घर की ओर लौट पड़ा। सूरज की तेज धूप उसके चेहरे पर तमतमा रही थी।

नीकोई ने वह घोषणा-पत्र पढ़ा। घोषणा-पत्र सुनकर जोहरा नीकोई से बोला, "क्यों नीकोई वह सैनिक कहता था कि हमारा कोई मालिक नहीं और हर कोई मालिक है। तो मेरे सिगार, मेरी खेती, और नीकोई तुम्हारा हर कोई भी मालिक हो सकता है?"

नीकोई ने जोहरा का चेहरा गौर से देखा। उसमें भय और प्रेम का विचित्र समागम हो रहा था।

"नहीं, मेरे मालिक सिर्फ तुम हो और इन सिगारों की मालिक मैं हूँ।"

उस दिन जोहरा ने कुछ और सिगार बनाए और नीकोई ने कुछ खाद्य-सामग्री। वह सोचती थी कि कभी भी ऐसा अवसर आ सकता है जब हम कई दिन तक बाहर न निकल सकें। इसलिए तहखाने में खाना-पीना तैयार रहना चाहिए। और उस दिन वह जल्दी ही तह-खाने में घुसकर सो गए।

सुबह उठे तो उन्होंने देखा कि समस्त प्रदेश सैनिकों से आक्रान्त है। गाँव के दोनों ओर मोर्चे लगे हुए हैं।

उस दिन शाम होते ही दोनों ओर के काफी हवाई जहाज आसमान में लड़ते रहे। दोनों ओर मोर्चों पर बम गिरने की आवाज कान के परदे फाड़ने लगी। दोनों ओर से सन-सन करती गोलियाँ और तोप के गोले चले। ऊपर दीवार और दरख्तों के गिरने की आवाज उन्हें अच्छी तरह सुनाई देती रही।

सुबह होते-होते दोनों ओर के सैनिक खण्दकों पर से हट गए। जोहरा ने बाहर निकलकर देखा कि वह सागौन का वृक्ष गोला लगने के कारण बीच से टूट गया है। और पक्षी के वे नवजात शिशु जख्मी पड़े कराह रहे हैं। उसने नीकोई को बुलाया और वह उन दोनों को उठाकर ले गई।

तहखाने में घुसकर वह नीकोई से बोला, "अगर मैं मर गया तो तुम्हारा क्या होगा नीकोई।" जोहरा के गले में दर्द और छटपटाहट भर गई थी। नीकोई की आँखों मे आँसू आ गए।

उस दिन वह तहखाना छोड़कर भाग जाना चाहते थे किन्तु नीकोई को ऐसी हालत में भूखे सिपाहियों के हाथ में दे देने के डर से वह न भागा। उस रात फिर वह वहीं मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगे।

तहखाने के अन्धकार में बच्चों के कराहने की आवाज आ रही थी। नीकोई उनके क्रंदन को सुनकर बेचैन होती जा रही थी। तहखाने की खामोशी उसके दिल में भय का संचार कर रही थी। जोहरा को जगाकर उसने बातचीत करनी चाही, किन्तु उसके नथनों से खर्राहट की आवाज आने लगी थी। नीकोई सोचती रही। ईश्वर से दुआएँ माँगती रही, "भगवान् इन बच्चों की तरह मेरे बच्चे का भी रक्षा करना। कहीं ऐसा न हो कि माँ-बाप बच्चे का मुँह देखे बिना ही चल बसें।"

कुछ रात गए फिर दोनों ओर से लड़ाई शुरू हो गई। धूम-धड़ाकों की आवाज उनके कानों मे पड़ने लगी। जोहरा जाग गया। और नीकोई के निकट को सरक आया। नीकोई का हाथ हिलाते जोहरा बोला, "इसी तरह हम पड़े रहे थे ········ जब मैं तुम्हें चुरा लाया था। याद है नीकोई? ········ लेकिन वह भूख-प्यास और थी। वह जमाना ही और था ········ आज हम पहली बार मौत के बिस्तर पर एक साथ सोए हैं।"

उसी समय निकट से एक गोले के फटने की आवाज आई। नीकोई के पेट में अचानक पीड़ा हुई और वह एक चीख मारकर बेहोश हो गई। जोहरा ने एक बार उसका हाथ चूम लिया। दोबारा अपनी आवाज का उत्तर न पाकर उसने समझा कि नीकोई चौंककर पुनः सो गई है और तब वह भी किनारे से लगकर सो गया।

एक बड़ा सूराख उस तहखाने में हो गया था। उसके नीचे नीकोई और नवजात शिशु की खून से लथ-पथ लाशें पड़ी थीं। बया के बच्चे सूखकर ठठरी हो गए थे। जोहरा एक कोने में अपने सिगारों की डलिया के सहारे बैठा एक हसरत भरी निगाह उन सबके ऊपर डाल रहा था किन्तु उसमें अब हिलने की शक्ति न रह गई थी।

स्वतन्त्रता का वितरण और उसकी रक्षा करने वाले अब भी अपने कामों में लगे थे। रात्रि ने अपने नेत्र मूँद लिए थे उसकी आँखों से हल्के-हल्के आँसू चू रहे थे। पता नहीं वह मानव की बर्बरता के ऊपर थे या उसकी सभ्यता पर ?

१०

चुनाव

जैसे कीचड़ से कमल और प्राची के घोर अंधकार से ऊषा का उदय होता है, उसी प्रकार म्युनिस्पैलिटी की नाली में मरे कुत्ते को देखकर लाला रामकिशन के हृदय में अच्छे संस्कार जाग उठे।

उनकी आँखों के सामने जो व्यापार होता है, उसमें कितना दगा, फरेब और बनावट है। जन-प्रतिनिधित्व के बहाने लोग किस प्रकार जनता के पवित्र अधिकारों को हजम कर जाते हैं। उनकी दूकान के नीचे मरा कुत्ता कई दिन तक पड़ा सड़ता रहा, लेकिन सड़क के मामूली मेहतर ने भी उनकी बात कान देकर न सुनी। वह सुने भी क्यों? जमादार को वह माहवारी देता है और उसकी मेहतरानी भी वक्त-बेवक्त उसके किसी काम से इन्कार नहीं करती। जमादार इन्स्पेक्टर को, इन्स्पेक्टर हैल्थ आफिसर को, और...... ।

लाला रामकिशन भुनभुनाये, "ओफ, सारा आवा-का-आवा ही बिगड़ा हुआ है!" क्रोध और खीझ से लाला जी का मस्तिष्क टेलीग्राफ के खम्भे की तरह अब भी झनझना रहा था। उन्होंने देखा उनके चारों ओर बिछी गद्दी की चाँदनी पर बोरियों के गमनागमन से कामिनी के मुँह पर लगे अंगराग के समान हल्दी की हल्की पर्त जम गई है। चाँदनी झाड़ते हुए उन्होंने मुनीम जी से कहा, "मुनीम जी, चेयरमैन को आज ही रिपोर्ट लिखो। इन्स्पेक्टर की यह मजाल कि गद्दी के सामने खड़ा होकर अकड़ जाय! सारे शहर के बराबर इनकम-टैक्स देते हैं

हल्दी वाले। मुनीम जी, देखा आपने, नाली में मरा कुत्ता किस तरह सड़ता रहा, सारे बाजार का नाकों-दम हो गया; पर इन रईसों की नाक में ऐसा इत्र-फुलेल बस गया है ··मुनीम जी, अभी लिखो और हमारी सही ले लो ?"

लाला रामकिशन चाँदनी झाड़ते रहे, पर उनके पंजों के निशान रेत पर पड़े निशानों की तरह अलग-अलग चमक रहे थे। हल्दी से रंगे अपने गोरे मुलायम हाथों की मुट्ठी बाँधकर अपना बल आँकते हुए उन्होंने मुनीम जी की ओर निश्चयात्मक दृष्टि से देखा।

मुनीम जी को शिकायत लिखने की प्रकट और मौन आज्ञा देने के उपरान्त लाला जी कुछ गम्भीर हो गए। उनकी आँखें सड़क की टूटी ईंट पर न जाने कब जा टिकीं और फिल्म के चलते रील की तरह उनका अतीत उनकी आँखों के सामने घूमने लगा। उन्होंने देखा—सड़क पर खोमचा लगाये दस वर्ष का एक बालक, परचून की एक दूकान—पहले छोटी और फिर बड़ी। बाद को हल्दी का व्यापार और आज के मोटर-बँगले, कल और कारखाने········ !

और आज ला० रामकिशन शहर के सबसे धनाढ्य और तपस्वी लक्ष्मीपति हैं। जब वे दस वर्ष के थे और अपने बाबा के साथ चौराहे पर बैठकर मूँग की दाल का खोमचा लगाया करते थे, तब क्या कभी सोचा था कि तीस वर्ष में दुनिया इतनी बदल जायगी। उसका सारा जीवन संयम और नियम से बीता। सन्ध्या, भजन और उपवास सभी उन्होंने किये और लक्ष्मी की कृपा बढ़ती गई। पर हृदय के इतने सरल कि आज भी चौराहे के नुक्कड़ की हल्दी की दूकान पर बैठना नहीं छोड़ा। मुनीम जी की ओर मुड़ते हुए लाला जी ने कहा, "सीमेंट और मसाले के बारे में चेयरमैन से मिले, मुनीम जी ?"

मुनीम जी ने एक झटके के साथ बही बन्द कर दी और कहा, "सौ मर्जों का एक इलाज है चेयरमैनी । इस तरह न कोई सीमेण्ट देता है और न शिकायत सुनता है । अब की बार चुनाव आ रहा है । खड़े हो जाइए, सेठ जी !"

कौन जाने मुनीम जी ने ये अटपटी बातें खीझकर कही थीं; पर उन्होंने वर्षों से हल्दी का व्यापार करते-करते लाला जी के मन और मस्तिष्क पर जमे हल्दी के एक इंच मोटे पर्त को जरूर भंग कर दिया। लाला ने उत्साहित होकर गद्दी पर एक अँगड़ाई ली और कहा, "क्या कहा मुनीम जी ? काम-धन्धे से फुरसत मिलेगी हमें ?"

"काम-धन्धा तो किस्मत के प्रताप से चलता है लाला जी, हाथ-पैरों से कभी काम चलता है ?" मुनीम जी ने उत्तर दिया ।

"हमें कौन राय देगा, मुनीम जी ! लोग समझते हैं, जिसके पास पैसा है, वह सब हराम का है । पर यह किसी ने नहीं सोचा कि यह तो व्यापार है, जो लगाता है, उसे ही मिलता है । धन्धा ही ऐसा है !" लाला जी ने लम्बी आह खींचते हुए कहा ।

"राय कौन देगा ? मौजूदा चेयरमैन को राय किसने दी ? उसने पब्लिक की कितनी सेवा की, कितने स्कूल, मन्दिर और कुए बनवाए ? पर आदमी दानिशमंद है, दूर की सोचता है । जो पास में था, इलैक्शन पर लगा दिया और कहाँ दिवाला निकलने वाला था और कहां अब सारे शहर का सरताज है । जो सबको देते हैं, वही राय आपको देंगे ," मुनीम जी ने कहा ।

"मुनीम जी, अपने पास तो भगवान् का दिया सब-कुछ है, हमें तो पब्लिक का एक अधेला भी नहीं चाहिए । आपसे कहते हैं—शहर की म्युनिस्पैलिटी को लाखों की आमदनी है । अगर तामीर और मर-

म्मत के ठेके लेकर मेम्बर लोग रकम हड़प न करें तो सारा शहर बागीचे की तरह महकने लगे। हम चाहते हैं, शहर की कुछ सेवा करें। सारा खर्चा कितना लगेगा इस इलैक्शन में, मुनीम जी ?" लाला जी ने जिज्ञासा की।

मुनीम जी अबकी बार सँभलकर बैठ गए थे। बोले, "खर्चे से राय नहीं मिलती लाला जी, आजकल।" मुनीम जी के मुख पर कुटिल हास्य उभर आया, "वे कहते हैं, यह डिमोक्रेसी का युग है और जनता की आवाज ही चारों ओर सुन पड़ती है। ये कांग्रेसी, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट कहते हैं कि वे जनता की आवाज को बुलन्द करते हैं। हमारे खयाल से दस-दरगाहों की जियारत न करके एक पीर को पूज ले। खर्चे से राय खरीदेंगे, लाला जी ! यह तो डिमोक्रेसी की हत्तक है," मुनीम का चौड़ा चेहरा पुनः कुटिल हास्य से भर उठा।

मुनीम जी की यह शहरी राजनीति सुनकर लाला रामकिशन के मन और मस्तिष्क पर वर्षों से हल्दी के व्यापार से जमे एक इंच मोटे पर्त को फाड़कर उनकी सेवा-वृत्ति का प्रकाश, दूर तक चली गई बिजली की बत्तियों से जगमगाती लम्बी सुरंग के समान ही, उनके अन्तर्प्रदेश में इस प्रकार व्याप्त हो गया जैसे प्राची के घनान्धकार में ऊषा।

अब लाला रामकिशन के सभी तर्ज बदल गए थे। हल्दी की दुकान छोड़कर वे शहर में घूमने लगे थे। शहर के इस छोर से उस छोर तक चक्कर लगाते और उनके मस्तिष्क में शहर की गन्दगी, कीचड़, खोमचे वालों के गन्दे पत्ते भरे रहते। वे कमर के पीछे हाथ बाँधकर घण्टों उस शहर के नव-निर्माण के नक्शे बनाते रहते।

लाला जी के चेहरे पर मुस्कराहट का एक स्थायी भाव आ गया था। वे जिससे मिलते, हृदय का समस्त सौहार्द और स्नेह उस पर उँडेल देने का प्रयत्न करते। वे बाबू, बनिये और मजदूर सभी से प्रेम

से मिलते । गर्ज यह कि सारे शहर में हल्दी वाले लाला रामकिशन की चर्चा थी और उनकी सर्द मुस्कराहट सभी के दिलों पर जमी हुई थी।

लाला रामकिशन के इस हृदय-परिवर्तन का सबसे पहले पंडित किरणशंकर जी पर असर हुआ । और जैसे त्यागी का त्याग समर्थकों को अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार लाला रामकिशन की गद्दी शंकर जी के पैरों को अपनी ओर खींच लाई। लाला जी ने बड़ी लम्बी प्रणाम के बाद निवेदन किया कि शंकर जी के शुभागमन से उस गद्दी के पवित्र होने पर वे अपना सौभग्य समझते हैं । और फिर इतने तपाक से शंकर जी की अभ्यर्थना हुई कि प्रशंसा से फूलकर उनकी ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार इस तरह ठप्प हो गया जैसे कोई बड़ा सेठ सट्टे के बाजार पर कृपा कर दे।

प्रथम परिचय में ही यह वार्ता इतनी लम्बी चली कि अगले चुनाव में कांग्रेस की ओर से लाला जी को उम्मीदवारी भी मिल गई और चार आने की कांग्रेस-सदस्यता भी । लाला जी गद्गद् होकर बोले—"शङ्कर जी, आपके बड़े त्याग हैं देश के लिए !"

शङ्कर जी ने लाला जी को मौन धन्यवाद दिया और कहा—"पर लाला जी, इस शहर की कोई सेवा मैं अपने हाथों न कर सका । मैं इस नगर का सौभाग्य ही समझता हूँ, जो आपके अन्दर भगवान् ने इस उदारवृत्ति का उदय किया है । पीड़ितों, दलितों और शोषितों के लिए जिनके हृदय में एहसास है, वही हमारी दृष्टि में महाव्रती हैं, वही सच्चे सेवक हैं। लाला जी, हमारी कांग्रेस समन्वय और सर्वोदय की हामी है । हम किसी से द्वेष नहीं करते, हमारे द्वार सभी के लिए खुले हैं और हम समझते हैं कि डिमोक्रेटिक व्यवस्था का सबसे बड़ा यही तकाज़ा भी है।"

शङ्कर जी के चेहरे पर हल्की-हल्की तमतमाहट आ गई थी और वे विनम्र हो कर मुस्कराने लगे थे। उनकी मधुर वक्तृता ने लाला जी की उदार और कोमल अन्तर्वृत्तियों को अपार सुख दिया।

पर न जाने इस षड्यन्त्र की सूचना समाजवादी नेता कामरेड तेजबहादुरसिंह को कैसे लग गई। फिर क्या था; शहर में पोस्टरबाजी शुरू हो गई। आजादी के लिए किये गए बलिदानों की विरुदावली गाई जाने लगी। चारों ओर कांग्रेस-पूँजीपति षड्यन्त्र का शोर सुनाई देने लगा और हल्दी वाले लाला को मृत्यु का आलिंगन किये बिना ही विदित हो गया कि इन्सान की मिट्टी कैसे खराब होती होगी।

शङ्कर जी भी यद्यपि ऐसी स्थिति के आदमी न थे, पर लाला रामकिशन तो एकदम बौखला ही गए। सेवा के अनुराग से फूल के समान खिले उनके चेहरे पर गम के हर समय बादल छाये रहते। वह राजनीति से सन्यास लेने की सोचने लगे थे।

पर सोशलिस्ट पार्टी के रजिस्टर में हल्दी वालों के बड़े लड़के ने नाम लिखाकर लाला जी को विपत्ति का पहाड़ एक फूँक से उड़ा दिया और नए अमरीकन मॉडल की कार में बैठकर कामरेड हरिकिशन पहले दिन पार्टी-आफिस में आया, तो इन्सान के पारखी कामरेड तेज-बहादुर ने अनुसन्धान किया कि वह उनसे कभी जुदा न होने वाला साथी होगा।

सच पूछा जाय तो इस नए आगमन से पार्टी की हलचलों में नए प्राण आ गए थे। एक लम्बी अवधि से उपेक्षित पड़ी रहने वाली पार्टी की योजनाएँ क्रियान्वित होने लगी थीं और लाला रामकिशन को अनु-भव होने लगा कि सफलता उनकी पकड़ में आ गई है।

हल्दी वालों और समाजवादियों के इस आन्दोलन से लाला जी के प्रतिद्वन्द्वी वर्तमान चेयरमैन लाला खूबदास को गद्दी डोलने लगी थी। यद्यपि लाला खूबदास का व्यक्तित्व कागजी न था, लोहे के चने चबाकर उन्होंने अपने को सँभाला था; पर यकायक कांग्रेस-समाजवादी संयुक्त मोर्चे पर बैठे प्रतिद्वंद्वी को ललकारने का उनमें साहस न रहा। लाला खूबदास ने सुना और देखा तथा अपने मजबूत फेफड़ों में एक लम्बी उसाँस दबाकर रह गए।

लाला खूबदास स्वयं निरक्षर थे, लेकिन उनके परामर्शदाता बड़े-बड़े वकील, अध्यापक और प्रोफेसर थे। उन्होंने इस संकट का सामना करने के लिए खूबदास जी को कहा कि वे जिला-कांग्रेस-कमेटी के सभापति को भेंट की गई नज़रों और चाय-पार्टियों और सम्मान-पत्रों का लाभ उठाएं। यह युक्ति सफल रही और एक हफ़्ते के अन्दर शङ्कर जी के नाम एक गुप्त पत्र आ गया।

इस शहर में एक पार्टी और थी, जिसके सदस्यों की संख्या पाँच से अधिक न थी, पर जो अपने को जनता की आत्मा, मुसलमानों को लीग, मजदूरों का हथौड़ा और कारीगरों का हुनर बताती थी। लाला खूबदास ने समाजवादियों को काट करने के लिए उसी पार्टी को बुला भेजा।

लाला खूबदास ने कहा, "देखिये, आप पाँच पांडवों के रहते इस नगर पर इन कौरवों का राज्य हो जाय! आप ठीक कहते हैं, समाजवादियों को पैसे से खरीदा जा सकता है।"

कम्युनिस्ट कामरेड नेता ने अपने रूखे बालों पर हाथ फेरते हुए कहा, "जी हाँ, आपसे पहले हल्दी वालों ने खरीद लिया।"

लाला बिदककर बोले, देखिये कामरेड महाशय, आप मुझ पर अन्याय करते हैं। मैं किसी को खरीद सकूँ, इतना सरमाया मेरे पास

कहाँ से आया ? अगर मैं चेयरमैन हूँ तो इसलिए कि मुझे शहर की सब कौमों का विश्वास प्राप्त है। मैं धर्म-कर्म के पचड़े में नहीं पड़ता। मेरे साथ कांग्रेस भी है, लीग भी है, और मजदूर-दल भी। सच मानिये कामरेड, मेरी कमला जब आप लोगों के त्याग और बलिदान की कहानियाँ सुनाती है तो मेरी आँखों में श्रद्धा के आँसू आ जाते हैं। दुनिया आपको लाख धिक्कारे, पर यदि इस देश का सच्चा उद्धार होना है तो वह आपके ही हाथों होगा।"

कम्युनिस्ट कामरेड लाला के जाल में फँसे हों अथवा नहीं, पर कुमारी कमला को पार्टी में लेने की इच्छा को उन्होंने अपने हृदय में जन्म अवश्य दे डाला था और समाजवादी पार्टी पर गुप्तचर-जैसी निगाह रखने लगे थे, क्योंकि मिस कमला के भाई वहां चले गए थे ?

लाला रामकिशन के लिए घात-प्रतिघात और मानापमान का एक और नया दौर शुरू हो गया था। मुनीमजी पर उन्हें क्रोध आता था जिन्होंने एक लिप्सा को उनके शान्त हृदय में पैदा किया था और उससे भी अधिक शंकरजी पर, जिन्होंने मानवता के ऊँचे सिद्धांतों की डोंडी पीटकर उनका रहा-सहा सुख-चैन भी छीन लिया। पर शंकर जी तो अब भूलकर भी गद्दी की ओर न निकलते। लाला रामकिशन जी शंकर जी से दो टूक बात करना चाहते थे और एक दिन स्वयं शंकर जी के शुभस्थान पर चले गए। लाला रामकिशन ने जलपान करते हुए उलाहना दिया कि शंकर जी उन्हें कीचड़ में ढकेलकर किनारा कर गए हैं।

शंकर जी ने पार्टी-आज्ञा का सहारा लेते हुए बहुत-से सज्जनोचित पैंतरे बदले, जिससे लाला रामकिशन को शंकर जी की दुर्बलता पर क्रोध आ गया। उन्होंने कहा, "शंकर जी, यही है वह मानवता, जिसमें समन्वय की अपार सहिष्णुता है। हम कहते हैं, आप इस नगर को जनता के नेता हैं। यदि आप किसी एक यथार्थ को इस नगर के लिए

मांगलिक समझते हैं तो जिला कांग्रेस के प्रधान टाँग अड़ाने वाले कौन? मैं अधिक राजनीति नहीं जानता, पर इतना जरूर कह सकता हूँ कि आपने मेरे साथ जो व्यवहार किया है, वह बनिये की दुकान से भी परले दर्जे की जालसाजी है और वह भी प्रजातन्त्र के नाम पर। हम जानते हैं, इस प्रजातन्त्र के पीछे लाला खूबदास का रुपया बोल रहा है। पैसा हमारे भी पास है—हमारे क्या, बहुतों के पास है, पर क्या यह वही प्रजातन्त्र है जिसके नाम पर आप दुनिया के दिमागों को भ्रष्ट करते हैं?''

लाला रामकिशन के हाथ में पापड़ का टुकड़ा था, जो हृदय में कटुता उभर आने से मुट्ठी में जकड़कर चूर-चूर हो गया। टूटे टुकड़ों को प्लेट में डालकर उन्होंने रूमाल से हाथ पोंछ लिए।

इसके बाद लाला रामकिशन शंकर जी से नहीं मिले। उनका चुनाव-आंदोलन आरम्भ हो गया था और वे कामरेड तेजबहादुर के कहे पर पूरा-पूरा अमल करते जा रहे थे।

इसमें सन्देह नहीं कि लाला रामकिशन के चेयरमैन बनने के स्वप्न ढीले पड़ गए थे, पर उनके व्यक्तिगत गुणों, संगठित प्रचार और चाँदी की चमक ने उनकी उम्मीदवारी को मजबूत तो कर ही दिया था।

लाला रामकिशन की बात शंकर जी के हृदय में गहरी पैठ गई थी और अब वह स्वस्थ मन से खूबदास-रामकिशन मोर्चे से हटकर स्वयं अपनी चेयरमैनी के स्वप्न लेने लगे थे। उन्होंने नगर-जिला-कांग्रेस-कमेटी के प्रधान की आज्ञा की स्पष्ट अवहेलना की थी।

लाला खूबदास को शंकर जी के बदले हुए ढंग का पता देर से चला। चुनाव में उन्हें अपने पुराने हथकण्डों से काम लेना पड़ा। कुछ रायें चाँदी से, कुछ भय-आतंक तथा सुरा के सहारे। लोगों को कई दिन

मकानों में बंद रखा गया, उन्हें शराब पिलाई गई और वेश्याओं के मुजरे कराये गये। तब कहीं जाकर लाला खूबदास को कामयाबी मिली।

मेम्बरी में कामयाब होकर लाला खूबदास शंकर जी के चेयरमैन बनने के मनसूबों को विध्वस्त करने की सोचने लगे। इसमें संदेह नहीं, बोर्ड की सिंगल पार्टी-मैजोरिटी का नेतृत्व शंकर जी के हाथ मे था, पर मुसलमान अछूत, शिक्षणालयों तथा महिलाओं के मत अभी बाकी थे। पर वामांगियों ने चुनाव में लाला खूबदास को इतना बदनाम कर दिया था कि वे चेयरमैनी के लिए बहुमत कभी भी प्राप्त न कर पाते। लाला रामकिशन की पार्टी पर चेयरमैनी निर्भर थी. इसलिए लाला खूबदास ने सोचा; लाला रामकिशन को चेयरमैन बनाया जाय और वे चेयरमैन चुन लिए गए। इतनी बड़ी कृपा करके भी लाला खूबदास अपने बड़प्पन का ज्ञान कराने एक दिन भी लाला रामकिशन की गद्दी पर नहीं पधारे।

लाला रामकिशन जिन परिस्थितियों में चेयरमैन हुए थे, उनमें अत्यन्त कर्मठ और सतर्क रहने की आवश्यकता थी। लाला के हृदय में नई उमंग, नया उत्साह और नए स्वप्न थे जिन्हें पूरा करने के लिए वे तत्पर हो गए।

लाला जी नित्य प्रातः उठते और देखते कि शहर की नालियाँ ठीक साफ हुई हैं कि नहीं, कहीं कोई कुत्ता, बिल्ली, चमगादड़ या चूहा तो नाली में पड़ा नहीं सड़ रहा है। शहर के मेहतर और जमादार तंग रहने लगे।

लाला जी यह भी देखते कि कहीं किसी ने गले-सड़े फल, घटिया मिठाइयाँ तो नहीं लगाई हैं, खोमचे वालों ने सड़क पर गन्दगी तो नहीं फैलाई है। लाला ने जूठन और कूड़े-कर्कट के लिए चौराहों पर बड़े-बड़े

काठ के ढोल रखवा दिए। खोमचे वाले, सफाई इन्स्पेक्टर और हैल्थ आफिसर उनकी सख्ती से तंग आने लगे और अन्दर-ही-अन्दर खट्टी और गर्म चर्चा होने लगी।

इससे भी गर्म चर्चा तब हुई, जब शहर की एक सड़क पर सीमेण्ट कराने का ठेका चौ० करीमुल्ला खाँ को नहीं दिया गया और स्कूल की इमारत ठीक कराने के लिए पंडित चौथराम जी को स्मरण नहीं किया गया।

लाला रामकिशन को इस विरोध का पता था, पर क्या वह यह नहीं जानते थे कि मेम्बर लोग अपने मित्रों और रिश्तेदारों को ठेके दिलाकर क्या करते हैं? लाला रामकिशन को सबसे संगठित विरोध का लोहा लेना पड़ा शंकर जी से, जो समय-असमय विरोधी पार्टी की शानदार मर्यादा को मजबूती से निभा रहे थे।

एक दिन चौधरी करीमुल्ला खाँ आए और कहने लगे, "लाला रामकिशन, मैंने सुना है कि आप हम पर एतबार नहीं लाते। इसीलिए हमारा पुश्तैनी हक भी छीन लिया। मियाँ, क्या हिन्दू, क्या मुसलमान पेट सबका एक है। आधी बाँटकर खाओ। लाला खूबदास को देखा है। अक्लमन्द आदमी हो, दयानतदार हो।"

पंडित चौथराम भी रेशमी अचकन और पटका; माथे पर चन्दन और ओठों पर पान की लाली सहित आये और बोले, "सुना है सेठ बड़े धर्मात्मा हो, ब्राह्मण का हक भी खा गए!"

लाला रामकिशन इन विनम्र चुनौतियों से घबरा उठे थे।""जनता के हितों पर चारों ओर से मक्कार लोग जोंक की तरह लगे हुए हैं।" उन्हें लगा जैसे उनका तप भंग करने के लिए शैतान ने अपनी हलचलें आरम्भ कर दी हैं। छः महीने में लाला रामकिशन ने दिन-रात श्रम

करके जो कुछ किया था, उसके लिए शहर में वाह-वाह थी और लोग लाला में श्रद्धा रखने लगे थे, किन्तु बोर्ड के हॉल में सत्य वही था जो बहुमत कहता था, जो शंकर जी का विरोधी पक्ष और जो लाला खूबदास के गुर्गे कहते थे और जिन्होंने शंकर जी से भी अधिक सक्रिय होकर लाला जी को उखाड़ना आरम्भ कर दिया था। पर लाला रामकिशन पतन के इन दुर्दमनीय अंकुशों के सामने सिर झुकाने के लिए तैयार न थे। वे विचारते, समस्या के हर पहलू पर तर्क करते और अपने निर्णय को कायम रखते।

सेठ जी ने मुनीम जी से कहा, "तेजबहादुर और हरिकिशन से कहो कि मौजूदा हालत का पूरा खाका खींचते हुए हमारा स्तीफा सही कराकर कलक्टर को पेश कर दें।"

मुनीम जी थोड़ी देर चुप रहकर बोले, "आप पर इज्जत-हत्तक का मुकदमा चलायेंगे दुश्मन लोग। जानते हैं, यह प्रजातन्त्र का विधान है; जो ज्यादा लोग कहते हैं, वही सच है।"

"मुनीम जी, मैं मुकदमे से नहीं डरता। बला से मुझे काला पानी हो, पर इन कुत्तों के मुँह का खून लोगों को दिखाई दे जाए तो मुझे सुख होगा।" लाला रामकिशन ने कहा।

मुनीम जी को जैसे लाला जी की भावुकता पसन्द न आई हो, बोले—"यह कोई रास्ता नहीं है। कुत्ते के आगे हड्डी का टुकड़ा फेंककर आगे बढ़ जाइए, अपने इरादों को पूरा कीजिए।"

लाला रामकिशन की नस-नस इस असमर्थता के कारण दर्द करने लगी थी; पर मुनीम जी का सुझाव उनकी वणिक-प्रवृत्ति को फिर भी पसन्द आ गया।

पर बात चौधरी करीमुल्ला खाँ तक ही सीमित हो, यथार्थ यह न था। लाला खूबदास ने पर्दे के पीछे बोर्ड में विरोधी मतों को संग्रहीत कर छोड़ा था, जिसके सदुपयोग का सुअवसर वे-विधाता के कहने पर भी न छोड़ सकते थे। शंकर जी के विरोधी दल और लाला खूबदास के स्वार्थी पार्टी-सदस्यों ने लाला रामकिशन पर बहुमत से अविश्वास-प्रस्ताव स्वीकार किया और शहर के निर्वाचक—सभ्य और असभ्य नागरिक—अपने ही हाथों बनाए अपने प्रतिनिधियों के हाथों सत्य का विनाश और विध्वंस होता देखते रहे। मजबूर थे। अगला चुनाव तीन वर्ष बाद आने वाला था !

११

ब्लड-बैंक

डाक्टर सिंह और नवाब शहरयार की मुलाकात एक अच्छा खासा हादसा रही । सुनते हैं शहरयार की दुलहिन मैके से एक चितली बिल्ली लाई थी-जिसको ससुराल आते ही कुछ हो गया । यह कुछ इतना बढ़ा कि बिल्ली केवल खाल रह गई ।

सच तो यह कि इस क्षुद्र मार्जारी ने दो महान् प्रेमियों को कसौटी पर कस दिया । इधर बेगम के गुलाबी रुखसारों की सुर्खी फीकी और उधर नवाब शहरयार के होंठ खुश्क ?

परन्तु डॉक्टर सिंह ने इस सम्भावित दुःखान्त को सुःखान्त नाटिका में बदल डाला । अपना स्टैथस्कोप लटकाये सँकरी, पेचीदा और सीलनदार गलियों और जीनों में नाक पर रूमाल सँभाले वह कड़े कष्ट से जनानखाने तक पहुँच पाए ।

चितली बिल्ली को नवाब शहरयार गोद में लिये बैठे थे । डॉक्टर को आता देखकर उन्होंने पेचवान दूर हटवा दिया और बड़े अदब से पलंग के पास कुर्सी खींचते हुए पधारने का संकेत किया ।

शहरयार चितली बिल्ली को बेनकाब कर देने पर भी डॉक्टर ने उधर नहीं देखा । वास्तव में चितली दस्तानों से अधिक न रह गई थी, परन्तु डॉक्टर सिंह को जब पता चला कि केवल-मात्र बिल्ली को-देखने के लिए वे बुलाये गए हैं तो उन्होंने अकस्मात् समझा—यह सब मज़ाक है !

उनकी यह परेशानी शहरयार से छिपी न रह सकी । उसने दर्द-भरी आवाज में बिल्ली और जनानखाने का हाल सुनाया। डॉक्टर सिंह का कोमल हृदय पसीज गया परन्तु स्टैथस्कोप सँभालते हुए कहने लगे, "आप लोग जानवर पालने का शौक रखते हैं पर उन्हें ताजी हवा तक नहीं दे पाते।"

"माफ कीजिए डॉक्टर सिंह ! मजबूरी है कि जनानखाने की बिल्ली है।" शहरयार ने अर्ज किया ।

डॉक्टर सिंह चुप रह गए । दिल में पर्दे के वह इस हद तक खिलाफ़ थे कि अपना बस चलते दुनिया भर के पर्दे केवल दो हाथों से फाड़ने का इरादा रखते थे किन्तु हिन्दुस्तानी नवाब के जनानखाने में पर्दे की समस्या पर हाथ डालना उन्हें अच्छा न लगा ।

डॉक्टर उद्विग्न होकर बिल्ली को उलटने-पुलटने लगे । पर बड़ी परेशानी ?

बिल्ली गुर्रा रही थी—

क्यों गुर्रा रही थी—आखिर क्यों ? डॉक्टर घबरा गए, उन्हें कमबख्त बिल्लियों से क्यों कभी वास्ता पड़ा था—जिनका नाम भी अशुभ, जिनकी परछाईं से भी बचा जाय । डॉक्टर ने देखा—बिल्ली उनकी आँखों को देखकर चमक उठी है। पर क्यों चमक उठी है। यह भी अजीब बात है--क्या आँखों पर पट्टी बाँधकर नवाब साहब का बिल्ली को देखने आते !

पर शहरयार ने बिल्ली की गुस्ताखी के लिए माफी माँगते हुए जब डॉक्टर से आँख बंद कर लेने की प्रार्थना की तो डॉक्टर को पसीना ही आ गया । पसीना पोंछते और फीकी हँसी हँसते हुए डॉक्टर ने कहा—
"जी हाँ ! ठीक कहा आपने मेरी आँखें तेज हैं।"

डॉक्टर उस दिन बिल्ली को इन्जेक्शन लगाकर और मोटी फीस लेकर भी खुश नहीं हुए और उस सारी परेशानी का कारण थी केवल छोटी-सी बिल्ली।

डॉक्टर को धन्यवाद देते हुए नवाब शहरयार ने कहा, "बहुत-बहुत शुक्रिया डॉक्टर साहब। हिन्दुस्तान में अगर कोई तबका अपने फर्ज को मुस्तैदी से अंजाम देता है तो सिर्फ डॉक्टरों का। पोस्टल—डिपार्टमेण्ट की एक्सप्रेस डिलीवरी दुगने टिकट पेशगी खाकर भी गायब होती हमने देखी। पर डॉक्टर! बेचारे इत्मीनान पर ही खिदमत··· ।"

"धन्यवाद ··कभी हमारे ब्लड-बैंक में तशरीफ लाइए।" और डॉक्टर भारी पैरों के नीचे छोटे जूते को रौंदते तेजी से पूरी बात सुने बिना ही उठ खड़े हुए।

डॉक्टर इस कदीमी नवाब को हरम सरा से निकल आए। उस आलीशान मकान के सामने खुशनुमा बगीचा था। फूलों से क्यारियाँ भरी थीं। उन पर रंग-बिरंगी तितलियाँ उड़ रही थीं और महराब पर कसीदे कढ़े हुए थे। पर डॉक्टर तो जैसे जहन्नुम में जा फँसे हों।

कुछ भी हो आज से शहरयार डॉक्टर का जिगरी दोस्त हो गया। यहाँ तक कि लगभग रोज ही ब्लड-बैंक के पीछे बने आरामगाह में चाय-पान होने लगा।

डॉक्टर सिंह को भी शहरयार ने कई बार मुजरों के लिए निमन्त्रण दिया था। परन्तु डॉक्टर कल्पना से आगे कभी नहीं बढ़े।

बढ़ते भी कैसे? उनका तो सारा जीवन ही स्वामी शिवानन्द सरस्वती के 'ब्रह्मचर्य ही जीवन' द्वारा ही अनुकृत था, और उसका फल भी नुमाया था। डॉक्टर सिंह के नेत्रों में शहरयार की बिल्ली तो क्या छोटे-मोटे बाघ से भी कम चमक न थी और उनका कद? बामतंबा और

बारोजगार होने पर भी पढ़ी-लिखी एक दर्जन युवतियों से रिजेक्ट किये जा चुके थे।

परन्तु हृदय के डॉक्टर बड़े उदार—ज्यों कदली-स्तम्भ के असंख्य पर्दों में छिपी मूसली; बड़े भावुक, इधर कई दिन से नौकर की हरकत से परेशान ! रामग्रासरे कितना सीधा, सौम्य व कातिल। उफ दुनिया कितनी कठोर और पापी है। डॉक्टर बँगले के पीछे आरामगाह में अकेले उस मानसिक पीड़ा को सह रहे थे।

परन्तु दोस्त शहरयार आ गए। अपने साथ सेब, संतरे लाए थे। डॉक्टर को उदास देख पूछा—"खैर तो है ?"

"क्या खैर है जनाब ! अपने रामआसरे को देखा है उन्होंने एक कत्ल कर डाला ?"

"लाहौल विला कुव्वत, सीधा कत्ल ?"

"जी हाँ। वह सामने चारपाई पर औंधे पड़े है। पहले रुस्तम बन गए और अब कहते हैं सरकार बचा लीजिए। मि० शहरयार मैंने जिन्दगी भर गुनाह नहीं किया, कभी करने को हसरत भी नहीं की, भला एक कातिल को पनाह कैसे दे सकता हूँ। लाख वह अपना···"

"लेकिन क्या आप वाकई उसे बचा सकते हैं डॉक्टर साहब ?" शहरयार ने व्यग्रता से कहा।

"इसमें भी क्या कोई शक है। अगर मैं लिख दूँ कि वारदात के मौके पर रामआसरे मेरे पास था, तो फेडरल कोर्ट के जज की भी क्या मजाल कि कलम हिलाय।" डॉक्टर सिंह ने कहा।

"वाकई बचाने वाला बड़ा होता है ! आखिर किस सिलसिले में इतना संगीन जुर्म उसने कर डाला।" शहरयार ने दोहराया।

"यही औरत का मामला है। हजार कहा औरत को क्यों अकेला छोड़ना अच्छा नहीं। पर कौन सुने और अब इतना पानी……।"

"अच्छा हुआ यहाँ न लाया" शहरयार ने मुस्कराते हुए कहा, "वरना डॉक्टर सिंह का ही कत्ल हो गया होता।"

"मैं तो इसकी बोटी-बोटी काट डालता मि० शहरयार! मुझे सिर्फ मोटा ही न समझें।"

"इसीलिए तो मैं कहता हूँ। बचा लो गरीब को। गुनाह कौन नहीं करता। गुनाह तो इन्सान की नस-नस में भरा हुआ है।"

डॉक्टर सिंह की नसों में उबाल आ गया था, इसलिए वे चुपचाप आसमान में उड़ती सुन्दर बदलियों को देखते रहे। शहरयार कहता रहा:—

"डॉक्टर सिंह आप ब्लड-बैंक के डॉक्टर हैं। आपने मेरी बेगम की बिल्ली को बचाया है। आप जानते हैं हर इन्सान की रगों में खून दौड़ता है, जिसमें उबाल भी आता है। इसी उबाल से अहसास पैदा होते हैं। अहसासों में ही गुनाह और सवाब हैं जो कड़ाही में पड़ी जिन्स के मानिन्द इंसान से बाहर फूट निकलते हैं। इसलिए हर आदमी गुनाह और सवाब करता है। यह सारा जहान एक ही ब्लड-बैंक है। आप खुद ब्लड-बैंक के डॉक्टर हैं। आप खुद कहते हैं कि हम सब बन्दर का औलाद हैं।" शहरयार ने नाटकीय वक्तव्य दिया।

"आप होंगे बन्दर की औलाद जनाब! दर्शन-शास्त्र झाड़ने लगे। कभी पढ़ा है आपने प्राणी-शास्त्र। यह गलत है। इंसान कभी बन्दर नहीं था।"

"गुस्ताखी माफ हो। हमने तो आपके छेओं में से एक शास्त्र भी नहीं पढ़ा।"

"उफ़?" डॉक्टर सिंह ने परेशान होते हुए कहा, "छै शास्त्रों से क्या मतलब, ' ायोलाजी अलग एक शास्त्र है।"

"तो क्या आपके छैओं शास्त्र में बायोलाजी नहीं है," चतुर शहरयार ने पूछा।

"मैंने कहा, बातें करते हो या हमारा इम्तहान ले रहे हो। आपकी कुरान से ज्यादा हो होगी हमारे शास्त्रों में बायोलाजी। आखिर आपने कुरान पढ़ी है। पढ़ने-पढ़ाने से आपका मतलब," डॉक्टर ने रक्षा की।

"इसीलिए तो मैं कहता हूँ—लोग भले ही अपने को पाक-दामन समझें, नेक और दाना समझें लेकिन सबकी रगों में उबाल आता है। बड़े-बड़े फकीर, महात्मा, लीडर और डाक्टर भी गुनाह करते हैं..... जी हाँ, अपने पेशे का नाम सुनकर चौंकिये नहीं, सिर्फ नजर का फर्क है। आप सोचिए। आप ब्लड-बैंक के डॉक्टर हैं। आपका फर्ज है जहां खून की कमी है वहाँ खून पहुँचायें। पर आपने कितने गरीबों को सूखती नसों में गर्म-गर्म खून पहुँचाया है, बल्कि घिनौने मर्जों के शिकार एय्याशतबा सरमाएदारों और रईसों की नसों में मशक्कत से कमाया हुआ जवानी का खून चुराकर आप भरते हैं। उसके लिए आप अपीलें छापते हैं। क्या आप जानते हैं कि जिन सिपाहियों के लिए आप ईमानदार पब्लिक का खून भेजते हैं, वह सभी भलाई के हक में लड़ते हैं? आपको मोटी तनखा मिलती है और आप ब्लड-बैंक में खून भरते जाते हैं। आपकी गुनाहों की लम्बी दास्तान है। माफ कीजिए, सिर्फ निगाह का फ़र्क है। मैं भी गुनाहगार हूँ। मैं शराब पीता हूँ, मुजरा सुनता हूँ और न जाने क्या-क्या गुनाह करता हूँ।"

शहरयार का गुलाबी चेहरा तमतमा उठा और डाक्टर सिंह का भारी शरीर भी सिहर उठा। डाक्टर जानता है कि यह लैक्चर झाड़ने वाला

शहरयार कौन देवता है। पर अपने अन्दर की बुराई को प्रकट महसूस करता है। तब क्या कहें डाक्टर सिंह।

"सचमुच क्या मेरा सारा जीवन निरर्थक है। रामआसरे ने जिस छुरे से अपने राकिब पर हमला किया होगा, वह क्या ब्लड-बैंक के मेरे यन्त्रों से जुदा नहीं?" डॉक्टर सिंह यूं ही सोचते रहे।

बंगले के पीछे वाली फुलवारी में जिस अन्तर्द्वन्द्व को सँभाले डॉक्टर सिंह बैठे थे वह ज्यों-का-त्यों था। उनके मस्तिष्क में पैण्डुलम की भाँति कुछ टक-टक हिलने लगा था।

उस दिन शहरयार डॉक्टर की नसें तोड़ गया। अगले दिन डॉक्टर सिंह ब्लड-बैंक भी बड़ी उदासी की स्थिति में गए। आज वह हार्दिक आह्लाद से पेश किया गया रक्त भी उत्साह के साथ स्वीकार न कर रहे थे।

डॉक्टर सिंह की मनोवृत्ति जैसे एक ही झटके के साथ बदल गई थी। रात्रि को १२ बजे भी तीमारदार के साथ उठ चलने में उत्साह दिखाने वाला डॉक्टर आज दिन में ही एक मरीज के साथ चलने से इन्कार करने लगा।

किन्तु यह मरीज और उसका शुभेच्छु कोई ऐसा-वैसा न था। उसने कहा, "डॉक्टर-साहब, नगर का इतना बड़ा नेता मौत के बिस्तर पर पड़ा है और आप चिन्ता नहीं करते। मैं कहता हूँ सवाल नेता की सेवा, समाज की सेवा का ही नहीं है। आपके हाथ से उन्हें शफा हो गई तो दोनों लोक सुधर जायँगे डॉक्टर साहब!"

"धन्यवाद इसके लिए," डॉक्टर ने प्रकट उदासीनता को पूर्ववत् स्थिर रखते हुए कहा, किंतु उनके अंदर कुछ छलावे की तरह कुलाँच

मारकर खड़ा हो गया था। उन्होंने कहा, "आप ब्लड-बैंक ले आइए नेता जी को।"

नेता जी आ गए। उनका सारा शरीर घुल चुका था। कानों पर लटकते उनके अधपके केश निर्जीव-से बिखर रहे थे, पर वे जैसे अपने आलीशान व्यक्तित्व के ध्वंसावशेष थे। उनकी आँखें अंदर धंस गईं थीं परंतु उनमें अब भी सौष्ठव था। दोनों हाथों को जोड़कर डॉक्टर को वन्दना करने का उन्होंने प्रयास किया—जो दुर्बलता के कारण किसी विदूषक के परिहास-सा लगा। डॉक्टर उन्हें देख कर बड़े द्रवित हुए।

नगर के नेता को बचाने का जैसे उन्होंने अंदर-ही-अंदर निश्चय कर लिया था। उन्होंने अस्पताल सिर पर उठा लिया। "डॉक्टर बनर्जी ताजा खून··सही-सही ? अब्दुल-गफूर। आपरेशन-रूम तैयार करो·· और हजरत जरा पैर सँभालकर···?"

एक क्षण में सब काम तैयार हो गया। डॉक्टर सिंह को सफल भविष्य की कल्पना करके मन-ही-मन शहरयार की उक्तियों पर हँसी आ रही थी ?

आखिर पूरी सतर्कता के साथ डॉक्टर ने खून का इंजेक्शन नेताजी को लगा दिया और खामोश खड़े होकर उस मुर्झाए चेहरे पर जीवन का प्रभात देखने की आशा से-खड़े रहे।

वातावरण स्तब्ध था। बड़े कमरे में घंटा चित्रगुप्त की तरह अपने आंदोलन वातावरण की नोटबुक में टाँक रहा था।

आखिर नेता जी के चेहरे पर एक हल्की-सी मुस्कान उदित हुई। डॉक्टर ने अपनी पृथुल बाहें पीठ पीछे मोड़ते हुए आश्वासन की एक दीर्घ निश्वास ली और मियाँ गफूर को आहिस्ता से आवाज दी। किंतु गफूर

के आने पर भी बोले नहीं एकटक उधर देखते ही रहे। फिर नेताजी के चेहरे की ओर डाक्टर ने सगर्व संकेत किया, "देखो गफूर।"

"सरकार के हाथ में हजरत लुकमान का असर है। ब्लड-बैंक के डॉक्टर आखिर···।"

"बाहर ले चलो," डाक्टर ने गफूर की बात काटते हुए कहा।

नेताजी ने आँखें खोल दी थीं और मुस्कराकर डॉक्टर के प्रति धन्यवाद प्रकट कर रहे थे।

डॉक्टर ने सोचा, "वाकई उस प्रतिष्ठा के वह असली हकदार हैं जो नगर में उन्हें प्राप्त है। शहरयार बकता है, बिलकुल पागल और झक्की है।"

नेता जी ने आहिस्ता से आँखें बन्द कर लीं और फुसफुसाया—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

डॉक्टर के धार्मिक संस्कारों पर चिरकाल से जमी गर्द-गुबार का इस उक्ति ने जैसे ऑपरेशन कर डाला। मन-ही-मन लहलहाए, "कितने पुण्यात्मा हैं नेता जी?" और गफूर को धीमे से पुकारा।

रोग-शय्या पर नेता जी ने अँगड़ाई ली, वह उनकी क्षमता के लिए असम्भव रूप से शक्तिशाली थीं। डॉक्टर अकस्मात् चौंक गए और उन्होंने ऊँची आवाज में पुकारा, "गफूर?" नेता जी ने पुनः आँखें खोल दीं और कहा, "मुबारकबाद डाक्टर?"

सफलता-सुलभ लज्जा से डॉक्टर के शरीर में हल्की-सी हलचल हो आई। नेता जी की पुतलियाँ फिर ऊपर घूम गईं और दीर्घ निःश्वास के साथ उन्होंने फर्माया···जो कुछ फर्माया वह गालिब का एक शेर था।

गफूर डॉक्टर की आवाज पर कमरे में प्रवेश कर चुका था, "मरहबा-मरहबा क्या खूब फरमाया सरकार ! उस्ताद गालिब के कलाम में आखिर वह जादू है कि .....।"

डॉक्टर बौखला गया । गफूर की ओर उन्होंने आँख तरेरकर जैसे संकेत किया और उधर नेता जो पलंग पर सीधे उठ बैठे—

"शम्भु ? देवी से कहो...अब मैं नहीं रुक सकता। मैं शैतान बन-कर अपनी मनमानी करूँगा। निकल जायँ मेरे घर से ?"

डॉक्टर लपककर तीमारदारों में पहुँचे और पूछा, "शम्भु कौन ? देवी कौन !"

डॉक्टर की घबराई सूरत देखकर सबकी आँखों में आँसू टप-टप, उत्तर नदारद।

"आखिर कौन शम्भु-देवी ?" डाक्टर ने हाथ फटकारते हुए कहा। लेकिन डॉक्टर की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई व्यग्रता जैसे उपस्थित लोगों का संयम-बाँध तोड़ रही थी। अस्पताल के तमाम आँगन में कोहराम मच गया, नेता जी की सेवाओं का गुणानुवाद होने लगा।

अन्दर से जोर-जोर आवाज आ रही थी, "कह दो उनसे मैं उससे घृणा करता हूं। मैं माँस खाता हूँ, मैंने अपनी जायदाद बेच डाली है...।"

डॉक्टर ने नेता जी के शरीर को हिलाया और साहस और धैर्य के साथ पूछा, "महाशय जी, आप क्या अनुभव करते हैं ?"

"कौन है ?" नेता जी ने लाल आँखें तरेरते हुए कहा।

मैं डॉक्टर सिंह। ब्लड-बैंक......

डॉक्टर का निवेदन समाप्त भी न हो पाया था कि नेता जी ने

घृणापूर्वक कहा "मैं····ब्लडबैंक का डॉक्टर ? मैं खटमल, यहूदी हरामखोर, गुलाम·····।"

डॉक्टर रुआँसा सा हो गया। बड़े भयंकर केस देखे, पर यह डॉक्टर-मार मरीज ? डॉक्टर के सारे शरीर में ऊपर से नीचे तक घृणा बिजली की तरह दौड़ गई, "आखिर यह बकता क्या है। यह इन्सान है ?" साथ ही केस की असफलता पर उन्हें गम्भीर चिन्ता ने आ दबाया। उन्होंने डॉक्टर बैनर्जी से टेलीफोन मिलाया—

"हेलो मि. बैनर्जी·····"

"देखिए आपने खून की अच्छी तरह जाँच·····"

"यानी कीटाणु वगैरह—"

"मेरे मित्र कौन। हाँ-हाँ बड़े तन्दुरुस्त। मि० शहरयार। मेरे पास ही आ रहे हैं ?"

"लेकिन मि० बेनर्जी केस फेल हो गया।"

"हाँ-हाँ आइए·· फौरन आइए।" डॉक्टर रोगी के पास पुनः गए। उसके नेत्रों में मुर्दनी घिरती आ रही थी, शरीर काँप रहा था और मुँह से झाग निकल रहे थे। डॉक्टर को देखकर अत्यन्त थकित स्वर में उन्होंने कहा, "क्षमा कीजिए डॉक्टर साहब, आपको बहुत कष्ट हुआ। अब जिंदगी का यह छकड़ा·····।"

स्वयं डॉक्टर सिंह उनको देखकर सहम गए। अस्पताल के चारों ओर दर्शनार्थियों की भीड़ एकत्रित हो रही थी।

अस्पताल के स्वागत-कक्ष में नेता जी के परिवार की स्त्रियाँ आ गई थीं और सुबक रही थीं।

डॉक्टर ने सुना बाहर शहरयार जोर-जोर से बहक रहा है। डॉक्टर साहब बाहर आए तो शहरयार ने पूछा—

"क्या बात है डॉक्टर।"

"कुछ नहीं लेकिन आज हमारे ब्लड-बैंक पर कैसे मेहरबानी कर दी।"

"जी हाँ शराब पीकर मैं अक्सर ऐसी ही मेहरबानी कर दिया करता हूँ।"

"शराब पीकर," डॉक्टर चौंके।

"जी हाँ! आप शराब को बुरा समझते हैं, लेकिन मैं तो शराब पी-कर बिलकुल सही हो जाता हूँ। दिल का आइना है शराब।"

"सही हो जाते हैं?" डॉक्टर ने पुनः साश्चर्य पूछा।

"माफ कीजिए! आप फिर मेरा मतलब नहीं समझे। यानी शराब बुरे को बुरा और अच्छे को अच्छा उसके सिर पर सवार होकर घोषित करती है। मैं तो अपनी बेगम के बाद शराब से ही मुहब्बत करता हूँ।"

"हूँ," डॉक्टर के मुर्दे शरीर में जैसे फिर प्राण आए हों और उन्होंने गफूर को जोर से आवाज दी। बंगले से रामआसरे को बुलाया और आप मि० बैनर्जी की ओर आमुख होते हुए बोले, "आपको मालूम है शराबी का खून नहीं लेना चाहिए।"

"मैं समझता हूँ! पर मि० शहरयार को देखकर मैं शराबी न समझ सका।"

डॉक्टर ने क्रोध को हास्य में बदलते हुए कहा, "यदि ताड़ीखाने से भी आपको शराब की गंध न आये तो ईश्वर ही आपका मालिक है। रोगी के सारे शरीर में शराब का नशा चढ़ गया है।"

शहरयार मुस्कराया। डॉक्टर भी मुस्करा रहे थे। शहरयार ने डॉक्टर से कहा, "गुस्ताखी माफ? रामआसरे को अभी फाँसी नहीं हुई।"

डाक्टर सिंह के सुदृढ़ मुँह की मांस पेशियों के उभार में प्रसन्नता अकड़ खड़ी हुई और बरसाती बादलों पर पड़ते इन्द्र-धनुष के समान खिच गई। शहरयार के हाथ सँभालते हुए डॉक्टर ने कहा, "दोस्त अब हमने सोचा है कि राम आसरे को भी शराब पिलाना शुरू कर दें और उन्हें नेता जी की खिदमत के लिए छोड़ दें।"

"फिर किसी दिन आप भी शौक फरमाइएगा।" शहरयार ने कहा। डॉक्टर कहकहा मारकर हँस पड़े और सोमी के पास चले गए।

१२

अपराध किसका?

जीवन में सबके दोस्त होते हैं, अच्छे भी बुरे भी। किन्तु वह ऐसा मित्र था जिससे एक बार मिलने पर फिर जीवन सूना लगने लगा। अच्छाई-बुराई की मीमांसा करना तो कल्पना से भी परे को बात हो गई।

उसका व्यक्तित्व ही ऐसा था। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें जब कहीं टिक जातीं तो लगता था कि उसकी पारदर्शी दृष्टि सारी दुनिया का तथ्य अपने में भरे ले रही है। किन्तु निरन्तर विचार करते भी उसकी मुद्रा में विचारक के चिह्न नहीं थे। उसकी मुख-कान्ति ऐसी थी जैसे युकलिप्टिसके वृक्ष पर प्राची का आलोक प्रस्फुटित हो और आँखें-जैसे कोई हँसमुख मेहमान-नवाज़??

एक दिन संध्या को हम घूमने निकले तो प्रकृति की अचरजमयी हलचलों ने एक नई कहानी पैदा कर दी। देखते-देखते आकाश में बादल ऐसे भर गए जैसे कोई कमरे में रूई ठूँसकर भर दे। पर आशा थी कि वर्षा शीघ्र ही आरम्भ नहीं होगी। किंतु जयराज ने शीघ्रता से चलना आरम्भ कर दिया। मैं भी साथ था किंतु आश्चर्य कर रहा था कि सदैव गम्भीर पगों से चलने वाला जयराज आज सिर पर पैर क्यों रखना चाहता है। मैंने आगे बढ़कर कहा, "क्यों भैया, आज घर पर क्या कोई विशेष बात है?"

"कुछ नहीं।" उसने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

मुझे मसखरी सूझ रही थी । फिर कहा, "प्रतीत तो ऐसा होता है जैसे कोई प्रेयसी घर पर प्रतीक्षा कर रही हो । पैर पृथ्वी पर ही नहीं पड़ते हैं ।"

किंतु मेरे शब्दों से दुःखित होकर उसने कहा, "सदैव वात्स्यायन के सूत्रों से जीवन को प्रेरणा नहीं देनी चाहिए।मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। आज स्टेशन पर बुआ आने वाली हैं । कहीं ऐसा न हो कि हमारे पहुँचने से पहले ही गाड़ी आ जाय । बुआ इस दुनिया में अकेली रह गई हैं भाई !"

उसकी वाणी द्रवित थी । अपनी भावुकता पर मैं कट-कट गया । और मुँह बन्द किये उसके पीछे-पीछे चलने लगा ।

आखिर हम समागतों को लेकर घर आ गए । बुआ का हृदय जयराज को देखकर जैसे उमड़ उठा। जयराज ने उन्हें सान्त्वना दी—बुआ आप दुखी क्यों होती हैं । मनुष्य के जीवन में यह क्या नई बात है। दुःख न मानिए । अब प्रकृतिस्थ होकर सँभल जाइए । अनुभूति की विशेष संज्ञा ही तो सुख-दुःख है। मैं इसे और अधिक नहीं समझता।" किंतु हृदय उसका भी भारी हो गया था।

बुआ के साथ एक बालिका और एक युवती भी थी। उन्होंने परिचय दिया, "यह सरोज है।" और सरोज की ओर आमुख होते कहा, "और ये तुम्हारे भैया हैं सरो !" सरोज भैया की कुर्सी पर आ बैठी। और युवती की ओर मुड़ते हुए कहा, "और यह उर्वशी हैं । इनकी परीक्षा का यह अंतिम वर्ष था किंतु उसको भी भाई का सुख भाग्य में नहीं बदा था।"

उर्वशी चुप थी । क्या कहती ? उसकी मुद्रा से कुछ हीनता अनुभव करने-जैसा भाव टपक रहा था। उसके होठ ऐसे नीरव हो गये

थे जैसे किसी सिफारिशी याचक के। जयराज ने आँखें नीची करते हुए कहा, "बुआ! उर्वशी निस्संदेह विद्यालय जा सकती हैं। अब तो आपका, मेरा और उर्वशी का घर अलग नहीं है।" इतना कहकर उसने एक दृष्टि उस युवती की ओर डाली जिसे उसने अभी तक देखा ही नहीं था। युवती की पलकें झुक गईं।

"ये तो उर्वशी से ही पूछो भैया, जैसी इसकी मर्जी।" कहकर बुआ के मुख पर कुछ सामयिक आह्लाद के चिह्न लक्षित हुए, "क्यों उर्वशी तुम स्कूल चली जाओ न?"

"नहीं अब क्या होगा स्कूल जाकर।"

किंतु जयराज ने जैसे उर्वशी की टूटी वाणी को जोड़ देते हुए कहा, "मैं यह नहीं मानता हूं उर्वशी! जीवन में चोटें पड़ती हैं तो उन्हें उद्यम, उत्थान का रास्ता साफ करना चाहिए। मैं जीवन की चोटों को मनुष्य का सबसे बड़ा पथ-प्रदर्शक मानता हूं। आज यदि तुमने भाई को खो दिया है तो क्या गति भी साथ खो दी है। मनुष्य अपनी गति अनन्य और अनन्त लेकर चला है। यदि मैं इस योग्य न होता तो भी तुम्हें अवश्य स्कूल भेजकर छोड़ता। जीवन का नाम चलता रहता है। रुककर सुख-दुःख की मीमांसा करना नहीं।" फिर बोलता-बोलता वह रुक गया जैसे सहसा कोई बात याद आ गई हो। "हां तुम किस कालिज में पढ़ती थीं उर्वशी?" सरोज को गोद में बैठाते हुए वह बोला, "तुम्हें-भी छोड़ता चलूंगा। अब इस घर को बुआ सँभाल लेंगी। और हम सरोज और तुम खूब घूम सकेंगे। क्यों है न सरोज?" उर्वशी उत्तर भी न दे पाई। उत्तर की जैसे उस वातावरण में आवश्यकता ही नहीं थी। वह न जाने क्यों इतनी स्तब्ध होकर रह गई थी।

हम दोनों ही उर्वशी के साथ कालिज गए। उसका दाखिला कराकर

कालिज से जब हम चलने लगे तो जयराज ने उसके हाथ में एक पर्स रख दिया। उर्वशी उसे हाथ में थामे रह गई। चलते समय नमन भी न कर सकी। न सरो को प्यार, न भाभी को नमस्कार! मुझे लगा न जाने इस युवती को क्या हो गया है। वह क्यों बौरा गई है।

हम चले आए। मैं तमाम रास्ते उर्वशी के विषय में ही सोचता रहा। विचार करता था कि गाड़ी में बैठकर जयराज से इस युवती के विषय में पूछा जायगा। किन्तु डर था कि कहीं वह ऐसे डिब्बे में न धँस जाय जहाँ भूख और प्यास के चिचोड़े कुछ कंकाल खाँसी के सहारे अपने जीवन के साँस पूरे कर रहे हों। ऐसी ही उसकी आदत है। किन्तु आज तो जयराज अपने में ही था। मुझे लगा कि ज्वालामुखी की उन्नत चोटी ऊषा के आलोक में रँगकर अन्तर का धुआँ उगलना भूल गई है। मैंने पूछा, "यह उर्वशी कौन है भैया?"

"बुआ की रिश्तेदार हैं। क्यों, तुमने सुना नहीं?"

"वह कितनी विरक्त-सी हैं। इतनी सुन्दर और इतनी विरक्त!"

"हाँ सुन्दर तो उसे होना ही चाहिए। नारी की सत्ता ही सौंदर्य में है। विरक्ति में विश्वास मैं नहीं करता, न ही जानना चाहता हूँ कि विरक्त होना अच्छा होता है या बुरा?"

मैं क्या जानना चाहता था इसका तो स्वयं मुझे भी पता नहीं था, किन्तु उर्वशी को बुआ के वचनों से जान लेने पर भी मैं यह प्रश्न कर रहा था। इसका अर्थ था कि जिज्ञासा कुछ गम्भीर थी। किन्तु जो एक प्रश्न के उत्तर में सैकड़ों उत्तर दे डाले उसके दिल की क्या जोहे कोई? एक-दो दिन बाद विदा लेकर मैं चला गया किन्तु उर्वशी और जयराज की बात को लेकर मैं सदैव ही उलझा रहता। दूसरी बार जयराज से जब मिला तो उसने उर्वशी का एक पत्र पढ़कर सुनाया। लिखा था, "परीक्षा सामने है। अब तो फँस ही गई हूँ, छुटकारा पाने की कोशिश करना भी व्यर्थ

प्रतीत होता है। मुक्ति में स्वाद भी आता नहीं दीखता। सरोज याद आती है। मेरी उसे याद दिलाइएगा और लिखिए कि उसने क्या कहा। और कुछ लिखना नहीं है। जरूरतें तो सब एक बार ही पूरी हो गई हैं।"

—आपकी उर्वशी

पत्र सुनकर मैंने उसके हाथ से छीन लिया। उतावली में यह सोचना भूल गया था कि उर्वशी अपने अभिप्राय को पत्र में कैसे लिख सकती थी और फिर पत्र सुनाया ही जा चुका था। मैंने कहा, "कितना सुन्दर लेख है जैसे अक्षरों में स्वयं हो बैठ जाती हैं। सौंदर्य में भी कितना आकर्षण होता है।" जयराज नहीं बोला किन्तु उसकी मुद्रा के भाव समुद्र-तट के मौसम की भाँति परिवर्तित हो चुके थे। मेरा मन बेचैन होकर सोच रहा था कि इस अभावुक व्यक्ति के ठूँठ वाण अवश्य ही उस कोमल युवती के आर्द्र हृदय को बींध चुके हैं। मेरी विचार शृङ्खला को उसकी घहराती आवाज नें तोड़ दिया। उसकी दृष्टि घड़ी के पेण्डुलम पर टिकी थी और वह विकृत चेष्टा करके बोल रहा था, "मैं सुन्दरता से नफरत करता हूँ। सुन्दरता से घृणा ही नहीं करनी चाहिए, किन्तु उससे डरना भी चाहिए। वह गतिवान के पैरों में इस्पात की बेड़ी के समान है।"

मुझे उसकी यह बात कुछ रुची नहीं। मैंने कहा, "यह तो आपकी व्यक्तिगत भावना की बात है। कोई सौंदर्य नें प्रगति की सत्ता देखता है, उसे प्रगति की शाश्वत प्रेरणा का मूल मानता है, प्रकृति के सौंदर्य से कितने ही कलाकार अमर कला और सौंदर्य की सृष्टि करते हैं। पर्वत के समुन्नत मस्तक, बादलों की कड़कती गर्जना को सुनकर वीर सेनानी प्रेरणा लेते हैं। जिससे प्राणों में गति हो, स्पन्दन हो वह वस्तु ही प्रेरणा का वास्तविक स्रोत होता है। सौंदर्य घृणित नहीं होता।"

मेरी बात सुनकर जयराज के चेहरे पर मुस्कराहट आ गई। कमरे

की एक-एक चीज को वह ध्यान से देखता रहा, उसकी मुद्रा के वर्ण इन्द्र-धनुषी हो गए। उसकी दृष्टि मेज़ के एक पैर पर अटक गई जहाँ एक मकड़ी जाला बुन रही थी और एक पतंगा उसमें फँसकर तड़प रहा था। वहीं वह रुक गया और उसकी जिह्वा से शब्दों की सृष्टि होने लगी, "नारी सुन्दर है, साक्षात् आकर्षण है। प्रकृति की समस्त वस्तुओं से उसमें अधिक सौंदर्य भी भले ही है। और उसमें आवाहन तथा प्रेरणा की भी चाहे कितनी अपार शक्ति है किन्तु इस आवाहन में एक चिपक है। मक्षिका के लिए मधु की-सी चिपक, जटिल सरेश-जैसी चिपक। सब कोई चाहता है कि वह किसी नारी का प्रेम-पात्र हो क्योंकि उसके एक चुम्बन ने उसके मन की गति पर से आगे कहीं उसकी बुद्धि की गति पर भी मुहर लगा दी है। उसके लपलपाते ओठों ने उसके प्राणों का ओज चूस लिया है। नारी केवल चूसती है, मैं नहीं कहता यह भावना प्रत्येक नारी में उभार खाई रहती हैं किन्तु वह ऐसी चिनगारी के रूप में सभी नारियों में रहती है जो अवसर और परिस्थितियों की राख के नीचे दबी रहती है, जब धू हट जाती है तो नारी का रूप नग्न हो जाता है। वेश्या-नारी में यह चिनगारी आभूषण हो जाती है।"

मैं जयराज की बात सुनकर बहुत खिन्न हो गया। आज उसके मुख से प्रथम बार पलायनवादी-भावनाओं की ध्वनि सुन रहा था और मैं किसी अज्ञात अनिष्ट की कल्पना करके सिहर रहा था। भावनाओं के समुद्र में यकायक तूफान आ जाने से जैसे पानी किनारे से टकराकर ऊपर उछल आता है वैसे ही मेरी मुद्रा आवेशमय हो उठी। मेरी स्थिति देखकर जयराज ने मुसकराने की कोशिश की और बड़े विनम्र शब्दों में मुझसे कहने लगा, "यथार्थ सुनोगे सुरेश ? नारी हमारे इस सांसारिक उद्यान की शोभा है और उसे सुरभित और सुरम्य बनाती है।"

मैंने देखा है जिस बगीचे में केतकी, चमेली, जूही, रजनीगन्धा, नरगिस और चम्पा-जैसे फूल नहीं होते वहां ठहरने को जी नहीं चाहता किन्तु कितने भौंरे रस-पान करने के लिए उनके पास में आकर अपनी अमूल्य रातें नहीं खो चुके हैं। मैं भी चाहता हूँ कि समुद्र के किनारे बैठकर उछलती तरंगों की आतुरता को देखूँ, आकाश में बने रजत-सोपान में बैठकर प्रिय को पाने की कोशिश करूँ। पपीहे की टीस, चक्रवाक दम्पत्ति की तड़पन अपने अन्दर भर लूँ किन्तु मैं इस सबके लिए कितना ग़रीब हूँ। प्रकृति के यह अवचेतन क्रिया-कलाप किसी ऐसी रहस्यमय क्रीड़ा के भेद हैं जिनसे हमें टकराना नहीं चाहिए। हाय ? पृथ्वी के पेट में पड़ने वाला रस ही तो ज्वालामुखी के रूप में फूटता है। प्रेम ? जिसे तुम अमृत पुकारते हो वही तो नारी के अन्तर से फूट निकलता है। मैं फिर कहता हूँ कञ्चन के प्याले में विष का घूँट है नारी।"

मैं जयराज की बातों से संतोष की सीमा पर पहुँच चुका था। किन्तु सोचता था यह अचानक परिवर्तन उसके हृदय में कैसे हुआ ! वह किस भाव को बल-पूर्वक अपने हृदय से निकाल देना चाहता है ?

उर्वशी कालिज से आ रही है, ऐसा उसके नए पत्र से विदित हुआ। जयराज स्वयं कार लेकर उसे स्टेशन से लेने गया। इस बार उर्वशी आई तो मैंने देखा कि वह कितनी सुन्दर और कोमल है। फूल-सी और चन्द्रमा की किरणों-सी कोमल और शीतल। जयराज की तरह रहस्यमयी नहीं, पहेली नहीं। शबनम-सी तरल प्रकृति के प्रांगण में मूक जगमग होने वाली वह जयराज की ओर आंख उठाकर नहीं देखती। अधिकांश मेरे निकट आ बैठती। सरोज को सजाने-सँवारने के लिए ही उसे जयराज के कमरे में जाना पड़ता। मेरी जिज्ञासा औचित्य की सीमा को भी कई बार पार कर-कर गई है और उस दिन औचित्य की सीमा का अतिक्रमण करके ही मेरे सामने एक बड़ी पहेली सुलझ गई।

जयराज अपने कमरे में बैठा कुछ पढ़ रहा था, लेकिन यह स्पष्ट था कि उसकी दृष्टि रिक्त थी और उसका मन किसी अज्ञात भावना से जूझ रहा था। बेंत की बनी कुर्सी पर बैठा वह बेचैनी से करवटें बदल रहा था और कभी-कभी हाथों पर पंजे कसकर अपना बल भी आजमाताथा। इसी बीच उर्वशी आ गई। कहा नहीं जा सकता कि वह जान-बूझकर उधर आई थी, अथवा अकस्मात् निकल आई थी; क्योंकि कमरे में प्रवेश करते ही उसकी हालत कुछ अजीब-सी हो गई। यद्यपि उसकी आहट से जयराज का ध्यान उधर आकर्षित हो चुका था; परन्तु उर्वशी सीधी खिड़की की ओर चली गई थी और वहीं खड़ी रहकर सूने आकाश की ओर ताकने लगी थी। जयराज उसे देख रहा था। उर्वशी ने काली मखमली किनारी की साड़ी पहन रखी थी और काले रंग की सैण्डिलों में से उसकी सुर्ख एड़िया जगमगा रही थीं। जयराज की दृष्टि ऊपर उठती जा रही थी। उर्वशी अभी-भी कोहनियाँ खिड़की में टिकाये और मुँह को हाथों में थामे बाहर ही देख रही थी। संध्या की अनुरंजित किरणों ने उसके कानों को भी जैसे कर्णफूल बना दिया था। उसकी दोनों वेणियाँ वक्षस्थल पर झूल रही थीं और उसकी गौर-वर्ण ग्रीवा पारदर्शी मरकत की तरह चमक रही थी। जयराज उठा और उसने उर्वशी की गर्दन पर एक चुम्बन अंकित कर दिया। यमराज की इस हरकत को देखकर मेरा कलेजा धक् से रह गया। उर्वशी पीठ की ओर घूम गई थी। उसकी आँखों में एक व्यथा थी। पर जयराज को तो जैसे। हाड़-मांस तक को कँपा देने वाला ज्वर चढ़ गया था। मैंने आगे खिड़की बन्द कर ली थी, पर मैं सोचता रहा-उर्वशी की आँखों में वह कैसी व्यथा थी और जयराज, जिसने अपनी आदर्शवादिता के लिए आज तक नारी की भर्त्सना ही की, आज यह क्या कर गया। निस्संदेह उसने यह अपराध किया था ? क्या सचमुच उर्वशी के मन में वह कुछ था जिसे जयराज ने

अपनी सनक का शिकार बनाया था ? एक बार भी मुँह बिना खोले ही जो उसने यह महान् निवेदन कर दिया था।

लेकिन अगले दिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जिस समय देखा कि उर्वशी बिलकुल बदल गई है। किस तरह उसका वर्णन किया जाय। वह थी-जैसे सदाबहार का वृक्ष वसंत के बगीचे में खड़ा हँस रहा हो। वह अब भी वैसे ही चुप थी जैसे नवागमन के क्षणों में रहती थी, पर उसके चेहरे पर अनेक भावनाएँ अठखेलियाँ करने लगी थीं और मौन रहकर भी वह कितनी वाचाल हो गई थी।

और जयराज, जिसकी आँखों में सदा से ही एक रहस्यमय स्वप्न का अधिवास रहा है; अब साफ़-साफ़ नज़र आता था कि जैसे किसी ने धोकर उसकी आत्मा का मैल साफ़ कर दिया है। मैं सोचता हूँ कि उन दोनों में अपराधी कौन है। पर मैं अपराधी किसको ठहराऊँ ? दोनों में से किसी ने भी तो कभी नहीं कहा कि यह एक दूसरे को प्रेम करते हैं। बल्कि प्रथम मिलन की पहली दृष्टि से ही प्यार करते हैं और अब सोचता हूँ कि इस दोस्त ने मुझे कितना कष्ट दिया है। अगर वह अपने दिल की बात पहलेही बता देता तो क्यों यह सब विश्लेषण करने का कष्ट मुझे उठाना पड़ता।

१२

प्रेरणा

'सुनते हैं पिट दी यंगर २३ वर्ष की अवस्था में ही ब्रिटिश साम्राज्य का प्रधान मन्त्री हो गया था। पर मैं आज भी कालिज की दीवारों से टकरा रहा हूँ। मेरे जीवन में भी साध है और साधक बनने के लिए मैं भी बलिदान कर सकता हूँ, विद्रोह भी मैं कर सकता हूँ, कदाचित् मार्क्स, लेनिन और गांधी से कम तो स्वाभिमानपूर्ण विद्रोह नहीं, परन्तु न जाने क्यों आनुभूतिक काव्य में बन्दी स्वरों के समान मैं आज तक केवल झनझनाता-भर रहा हूँ!'

ऐसा कुछ युवक प्रदीप अपने बारे में सोचता है। विश्व-विद्यालय में वह मनोविज्ञान का विद्यार्थी है। अध्यापकों से चर्चा होते समय कई बार उसे सुनने को मिला है कि जितने विज्ञानवेत्ता, लेखक, कवि, कलाकार और इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुष हुए हैं उनमें अधिकांश किसी अनुरागमयी नारी के नयन-कोरों से प्रांजल हुए हैं प्रदीप सोचता है कि उसका भी अपना जीवन पत्थर की तरह संवेदन-हीन नहीं है?

मालती प्रभात की प्रथम किरण के समान उसके जीवन में आई है। वह उसी कालिज की छात्रा है और विद्यालय के चार सहस्र छात्रों में हृदय की सम्पूर्ण सचाई और समर्पण के साथ उसने प्रदीप को स्वीकार किया है। अपनी अठारहवीं वर्षगाँठ के अवसर पर अकिंचन प्रदीप के पुष्प स्वीकार करते हुए उसने कहा था, "मेरे जीवन की ये गाँठें तुम्हारे

हाथों के फूलों द्वारा बार-बार अभिनन्दित हों—इसी कामना के साथ उन्हें सिर पर धारण कर रही हूँ।"

इन शब्दों की ध्वनि से जिस पुलक का संचार उसके मन-प्राण में हुआ था वह कितना स्वस्थ और स्वाभिमानपूर्ण था। आकाश-बेल की भाँति मालती ने अपना अस्तित्व प्रदीप पर छोड़ दिया था—जो यदि आकाश तक उठता अथवा रसातल तक चला जाता तो निश्चय ही वह उसके साथ लिपटी चली जाती।

पर मालती के पिता माथुर साहब ने प्रदीप को स्वीकार नहीं किया। मालती के लिए आने वाले अन्य प्रस्तावों के समक्ष प्रदीप के गुण-कर्म को उन्होंने ऐसे ठुकरा दिया जैसे चमकती सिगरेट का शौकीन सस्ती और कुरूप बीड़ी को धिक्कारता है।

परन्तु मालती ने फिर भी कहा, "आप मेरा हाथ सँभाल लीजिए। वे मेरी बात मान लेंगे।" प्रदीप को लगा जैसे प्रेयसी की उदारता में वह मात्र शरणार्थी रह गया है। उसने प्रश्न किया, "मालती, क्या तुम बता सकती हो कि मेरी समानता में वह बैरिस्टर को क्यों पसंद करते हैं?"

"मैं कैसे कहूँ, पर वे कहते हैं कि वह अधिक शिक्षित, सम्पन्न और कुलीन है," मालती ने कहा।

"तो फिर उनकी अदूरदर्शिता का प्रतिकार हमारे पास है ही क्या सिवा इसके कि हम परिस्थितियों से विद्रोह करेंगे," प्रदीप ने दृढ़ता से कहा।

मालती ने प्रदीप के नेत्रों में जलती हुई विद्रोह की चिनगारी को देखा। एक सिहरन उसके सारे शरीर में दौड़ गई। दुस्साहस का अन्ध-

कार उसकी आँखों के सामने घनीभूत हो उठा। पलक झुकाकर उसने सह-विद्रोह के लिए मौन स्वीकृति दी।

कालिज की उत्फुल्ल वाटिका में पौधों पर खिलते फूलों पर मस्त-हँसी छा रही थी। उनके नीचे मृतक पुष्पों की पँखुड़ियों पर कीड़े लिपट रहे थे। बगीचे की पगडण्डी के दोनों ओर खड़े पुष्प-पादपों पर आकस्मिक स्पर्श से भिनभिना उठने वाले कीट-पतंगों की भीड़ में भी वह अलस भाव से चली जा रही थी। दोनों चुप, पर मन-ही-मन महाव्यस्त। कालिज की सीमा से बाहर निकलकर वह अलग हो गए।

'विद्रोह !' प्रदीप सोचता था—'वह विद्रोह करेगा ? यानी एक दिन वह अपने कालिज-जीवन को समाप्त करके अपनी फटी-टूटी पोटली में अपनी वृद्धा माता के समस्त जीवन की कमाई बाँधकर मालती को लेकर भाग जायगा। उसे लगा कि जैसे वह भाग गया है। पुलिस, सी० आई० डी० और माथुर-परिवार के लोग उनके पीछे पड़े हैं। चारों ओर मशकूक निगाहें उनका पीछा कर रही हैं और वह भूखे-प्यासे मैले-कुचैले कलकत्ता, बम्बई और मद्रास......!'

अकस्मात् पीठ पर बज उठने वाले हार्न से उसकी विचार-तन्द्रा टूटी। उसने घूमकर देखा—बड़ी-बड़ी मूँछों वाला एक ड्राइवर अशिष्ट शब्दों में उसका स्मरण कर रहा है। प्रदीप घबरा गया और ड्राइवर की अशिष्टता का प्रतिरोध किये बिना ही वह सामने से हट गया। उसकी इस विक्षिप्त घबराहट को देखकर पास की खिड़की में शृङ्गार करती एक युवती खिलखिलाकर हँस पड़ी और अशिष्टता का अनुभव करके यौवन की सलज्ज शोखी के साथ उसने धमाक से कपाट बन्द कर लिए।

पिटा-सा प्रदीप आगे बढ़ गया। विचारों का क्रम उससे फिर भी एक कदम और आगे था। वह सोचता, 'तो मालती के स्नेह भरे

हृदय, उसकी लम्बी सुगन्धित केश-राशि, स्वस्थ और प्रेरणा भरे शरीर पर उस तुच्छ कानून के ग़ुलाम का अधिकार हो जायगा और प्रदीप रोगी-कुष्ठी स्वान की तरह टुकुर-टुकुर उसे निहारा करेगा !'

चलचित्र की भाँति मालती की मुसकराती देह उसके नेत्रों के सामने साक्षात् खड़ी हो गई और क्षण-क्षण बाद कमनीय रूप धारण करती गई। प्रदीप के समस्त शरीर का स्नायु-जाल आवेश से अकड़ गया। वह बड़बड़ाया, 'केवल इसलिए कि वह गरीब है, उसके पास छल-कपट और मक्कारी से कमाया गया धन नहीं है ? आखिर वह निर्धन क्यों है ? क्यों नहीं उसका जन्म भी किसी समृद्ध परिवार में हुआ ? उसे तो स्कूल ही तब भेजा गया जब वह बढ़कर पूरा बैल हो गया था। अन्यथा आज से पाँच वर्ष पूर्व वह भी बैरिस्टर होता और अध्यापन द्वारा प्राप्त धन के सहारे अपनी प्रतिभा से जूझकर कालिज की पढ़ाई न चला रहा होता।'

प्रदीप के कदम सधे हुए जानवर की तरह घर की ओर उठते जा रहे थे। मस्तिष्क में विचारों की विकट जकड़, उसके घर की फटी मुँडेर और अठारहवीं शती के फाटक अत्यन्त स्नेह से उसका स्वागत करते दीख पड़े, पर प्रदीप आज अपरिचित की तरह उनसे उचक रहा है। उस घर को स्वीकार करना जैसे अपनी दीनता को स्वीकार करना था। उसके पैर ठिठक गए और वह काइन-हाउस में घुसाई जाने वाली दीन गाय के समान कई मिनट नकारावस्था में छटपटाता रहा। वह एकटक उस घर को निहार रहा था जिसमें आत्मा की तरह निवास करते पिछले चौबीस वर्ष उसने बिताये हैं।

प्रदीप को रुलाई आ गई। न जाने क्यों आज वह अपने को अस्वीकार करना चाहता है। अतीत के प्रति अकृतज्ञ होना चाहता है।

प्रदीप अन्दर चला गया। उसका शरीर थककर चूर हो गया था। इसलिए सीधा अन्दर अपनी कोठरी में चला गया। जिसे उसने यदा-कदा पारितोषिक में प्राप्त होने वाले कपों, चित्रों और पुस्तकों से सजाया था। इस कमरे में चार चित्र, दो कुर्सी, एक पलंग, एक बक्स और शीशेदार अलमारी थी। फर्श कच्चा और छत नीची थी। एक बार शीशे के सामने खड़े होकर उसने अँगड़ाई ली और विश्वास किया कि वह किसी नाली में रेंगने वाला कीड़ा नहीं—एक भद्र, स्वस्थ, सुन्दर और प्रेमी युवक है।

बाहर छप्पर के नीचे माँ चक्की चला रही थी। भूरे बाल, छोटे, गिनती में आ सकने वाले, चुड़ी खाल-क्षय के रोगी-सी और आसमान से आँख मिचौनी खेलने वाला वह सायबान? प्रदीप ने सोचा 'यही माँ मालती की सास बनेगी?'

दोनों हथेलियों में मुँह ढाँपे वह सोचता रहा-सोचता रहा, 'इस फूटे घर को वह छोड़ देगा। मालती को लेकर अलग घर बसायगा और इस माँ को भी छोड़ जायगा-जिसने बीस वर्ष पीस-कूटकर उसे पाला और पढ़ाया। हाँ-हाँ जरूर छोड़ जायगा। इसीका तो सब दोष है, जिसने अपने अकिंचन गर्भ में धारण करके उसे मोती से पत्थर बना दिया। वह दीनता के इस कंकाल, पुरखों की इस धरोहर को जरूर छोड़ जायगा?'

सूर्य पश्चिम में छिप गया। खुले आँगन पर हवाबाजों की भाँति नीची डुबकियाँ लेते काँव-काँव कर रहे कौए नदी किनारे से लौटने लगे। आकाश में एक-आध सितारा टिम-टिम करने लगा था। पर प्रदीप ने कुछ भी न देखा। उसकी हथेलियों के मध्य का कृत्रिम अन्धकार घनीभूत होकर ही जैसे सारी दुनिया पर छा गया था। पर वह नहीं उठा।

माँ ने देखा घर में कोई है, निश्चल, निर्जीव-सा पड़ा है। उसका

पूरन नहीं हो सकता। उसके तो आते ही घर की दीवारों के मुँह प्रसन्नता से खिल उठते थे। अवश्य ही पूरन नहीं हो सकता !

पास जाकर देखा—वही था।

माँ धक् से रह गई। हाथ हटाकर देखा-उसका बेटा सोया पड़ा है। माथा गर्म, गालों पर आँसुओं की सीलन ! शायद वह अभी-अभी रोकर सो गया है। न जाने क्यों माँ की आँखों से आंसुओं की धार बह चली। उसे याद आया। जब पूरन छोटा था तो पड़ोस से अपमानित होकर, दूसरों की अच्छी चीजों के लिए जिद करता आता था, तब उस अनाथ पुत्र की माँ का कलेजा कैसा दरकता था। तब वह स्नेह से उसका सिर अपनी गोद में रख लेती और वह रोता-रोता सो जाता था।

आज भी उसका हृदय वैसे ही दरकने लगा, पर उसने बेटे को उठाया नहीं। अपना काम समाप्त करके खटोले पर लेट गई और नींद की गोद में जा पड़ी।

शीघ्र सो जाने के कारण प्रदीप जल्दी ही जाग गया। पर उसके मस्तिष्क की शिराएँ किसी लापरवाह गवैये की कसी-खूँटी पर टँगी रह गईं वीणा के तारों के समान अब तक झन्ना रही थीं। दिन का प्रकाश धीरे-धीरे खिल रहा था और वातावरण का कठोर यथार्थ उजागर होता जा रहा था। उसकी माँ अभी भी खटोले पर चित्त सोई पड़ी थी। उसकी साँस गले में अटककर भयानकता के साथ घहरा उठती थी। प्रदीप क्षण-भर माँ को लेकर विचार करता रहा। उसे लगा जैसे वह माँ शत्रु के हाथ पड़ जाने वाली भयानक दुर्बलता उसके लिए है—जिसका निराकारण सम्भव नहीं।

प्रदीप उठा और फाटक हटाकर चुपचाप बाहर निकल गया। अब वह नदी-किनारे आ गया था। सूरज की सुनहरी किरणें दरिया की घाटी

पर पड़ रही थीं और वातावरण में उड़ता कोहरा किसी रईस के महल में उड़ते गुलाल-सा लग रहा था। दरिया की पेटी दूर तक चली गई थी और दूर क्षितिज में परमात्मा में आत्मा के समान लकीर-सी बनकर विलीन हो गई थी। हल्की-हल्की लहरों पर प्रकाश खेल रहा था-जो अकस्मात् किसी विशाल कच्छप के सिर निकालने पर आन्दोलित हो उठता था। नदी के इस किनारे पर भक्त और दूसरे पर बगुले ध्यान में मस्त थे। इस विविध-विषयी वातावरण में प्रदीप का मस्तिष्क उलझकर शांत हो गया। किनारे पर खड़े होकर आकाश में दृष्टि फेंकते हुए उसने दृढ़ता से सोचा-क्या वह मालती के गले में हाथ डालकर इस दरिया में डूब नहीं सकता!

यह विचार सशरीर कई क्षण नदी की पेटी पर तैरता रहा। विचार के क्रियात्मक रूप की इस कल्पना से उसे एक बार हँसी आई। आत्म-हत्या का यह घृणित विचार! वह जोर-जोर से हँसने लगा, 'तब तो लोग उसे अवश्य ही मजनू की कोटि में रखकर इतिहास-प्रसिद्ध करेंगे जब कि उछलती हुई मछलियाँ हमारे शरीर का स्वादु आहार बना डालने के लिए अभी से बेचैन हैं।'

नदी पर से वह लौटने लगा तो उसे अपने एक ग्रामीण मित्र की याद आ गई। उसके सामने भी किसी समय ऐसी ही प्रेम-समस्या थी। उसने तो जमींदार की लड़की से विवाह होने के पूर्व ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उसके बाप को पछाड़ दिया था। इस विचार से उसे मन-ही-मन भारी दुःख हुआ। उसने सोचा, 'काश; मेरी यह युक्ति भी असफल हो जाय तो मेरे ही रक्त से उत्पन्न वह संतान किसी अंधेरी रात में नाली में फेंक दी जायगी और माता के स्तन से अमृत पीने के स्थान पर उसे कीचड़ पीनी पड़ेगी। इस दुनिया में अपनी नन्हीं पलकें खोलते समय चीख उठने से पहले ही नाली के विषैले कीड़े उसे

खा जायँगे।''''''कौन जानता है—वह मेरी संतान ईसा, बुद्ध, गांधी अथवा लेनिन के समान ही संत्रस्तों का उद्धार करने वाली हो ?'

प्रदीप के मुँह से एक हल्की हाय-सी निकल गई। कल्पना की कीचड़ में कुलमुलाता उसका विचार-पुत्र उसके सिर पर भूत की तरह सवार हो गया। उसने कई बार आँखें खोलीं और बन्द कीं। पलकों के अन्दर रूमाल डालकर आँखें साफ कीं और चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखा। सूरज की किरणें काफी गर्म हो चुकी थीं, और काम-धाम में लगने वाले लोग जल्दी-जल्दी अपने कपड़े ठीक करते दौड़ रहे थे। पास में ही एक भिखारी आकर खड़ा हो गया था। उसकी टाँगों की लम्बाई पूरी थी किन्तु वे पिचककर टिकटिकी के समान उसके धड़ को सँभाले थीं। चेहरे पर घनी उगी दाढ़ी और मूँछों के साथ उसकी ढीली खाल नौटंकी बदतमीज विदूषक की याद दिलाती थीं। लेकिन उसके कासे में कई चमकते हुए सिक्कों की ओर उसका ध्यान बड़े वेग से आकर्षित हो गया। पर भूमिका के अनुरूप ही इस पुस्तक के विषय को यह अधिक सहन न कर सका। मन को स्वस्थ करने का प्रयत्न करने लगा।

आगे नगर का सुप्रसिद्ध वेश्यालय था जिसके अधिकांश द्वार बन्द थे। सूरज की किरणें उनसे टकराकर पीछे लौट रही थीं। कहीं-कहीं कुछ प्रौढ़ाएँ पाउडर और सुर्खी लगाये बैठी थीं-जो घटिया किस्म के होने के कारण त्वचा से साफ भिन्न चमक रहे थे। सड़क पर चलने वाले छैले एक-आध रसीली और उपहास भरी दृष्टि उन पर फेंक देते थे जिसे वे चतुर मकड़ी के जाल में फँसने वाले कीड़े के समान फौरन तत्त्व निकाल फेंक देती थीं। प्रदीप की दृष्टि भी एक पर पड़ गई। उसकी मुख-मुद्रा पर यत्न से उत्पन्न किया हुआ उच्छृंखलता पूर्ण आमन्त्रण उसे मिला--जिसे प्रदीप जिज्ञासा होते हुए भी सह न सका और तेज चलकर उसकी आँखों से ओझल हो गया। उसने सोचा, 'नारी के अन्तर में छिपे उस प्रेम का

क्या वास्तव में यही रूप है जो इस नारी के मुख पर था, उसी के लिए क्या पुरुष विद्रोह करता है और यदि वह कुछ और है तो उस दिव्य प्रेम की अनुकम्पा इन अभागिनों पर क्यों नहीं होती ?' तभी उसे भिखारी के चमकते हुए सिक्कों की याद आई और वह सोचने लगा—'क्या उन चन्द सिक्कों के बदले में यह नारी उस घृणित फकीर को सीने से लगा सकती है ? और उनके अभाव में प्रदीप को नहीं ठुकरा सकती ? नारी का प्रेम पैसे का रूप धारण करके उसके नेत्रों पर छा गया । रास्ते पर चलते लोगों की आँखों पर लगे चश्मों के अन्दर से झांकती आँखें उसे गोल-गोल चाँदी के रुपयों-सी दीख पड़ने लगीं । बगल में खड़ी ऊँची इमारतों की खिड़कियों में भी पैसे भरे हुए दीखे, जिनकी रक्षा द्वारों पर खड़े संतरी अपने फूले गालों में गालियाँ भरकर कर रहे थे। इसके अतिरिक्त दूकानों पर पैसा, मंदिरों में पैसा, बैंकों में पैसा, होटल और ढाबे में सब जगह पैसा-ही-पैसा था और वह पैसा इन्सान की गरदन बड़ी मजबूती से दबोचे हुए था । उसने चुपके से अपनी जेब में हाथ डाला और अन्दर-ही-अन्दर पैसे गिन डाले। कुल दो रुपये पाँच आने । उसे लगा जैसे सड़क पर घूमने वाले झल्ली वाले से भी वह गया-बीता है और तभी उसका ध्यान माथुर साहब की तिमंजली कोठी की ओर चला गया ।

उसे ध्यान आया कि पूरे पैसे न होने के कारण वह कालिज की फीस भी नहीं दे सका है । उसके लिए उसे ट्यूशनों पर जाकर रुपये प्राप्त करने हैं। अब दोपहर के १२ बजे हैं और उसके मुँह में अन्न का एक दाना भी नहीं गया है। फिर भी एक के बाद दूसरी समस्या डंकनी की तरह दाँत निकाले उसके सामने आकर खड़ी होने लगी है।

प्रदीप ने फिर सोचा, 'यह सही है कि वह माथुर साहब की निगाह पर नहीं चढ़ सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे पैसे के बिना वह

बाजार की वेश्या के मन पर नहीं चढ़ सकता—उस फकीर से अधिक स्वस्थ और सुन्दर होने पर भी । उसे लगा कि पैसे वालों ने इस संसार-महा समुद्र के किनारे पैसे का जाल बुनकर मानव का सुख, समृद्धि, हृदय और उसके अरमान, सुन्दर और स्वस्थ शरीर तथा प्रकृति का समस्त सौंदर्य छीन लिया है। उसे लगा कि वह उस महा समुद्र में तैरता ऐसा केंचुआ है जिसके गले में पैसे वाले का बटुआ अटक गया है पर जिसे उस मछुए ने क्रुद्ध होकर जल से बाहर पटक दिया है । उसका साँस फूल गया और उसे लगा कि उसका पाजामा नीचे खिसक रहा हैं । गालों में गढ्ढे पड़ रहे हैं और आँखों से आँसू टपकने वाले हैं। उसने शालीनता के साथ पिचके पेट के ऊपर कमरबन्द कस लिया और जल्दी-जल्दी चलने लगा। आगे वही फूटी मुँडेर वाला उसका घर और सफेद बालों वाली उसकी माँ!

माँ ने जल्दी ही खाना बना लिया था। १२ बजे तक भी पुत्र के न आने पर माँ पड़ौस में दुःख रोने चली गई थी। प्रदीप ने द्वार पर खड़े होकर अम्मा को ऊँचे स्वर में पुकारा । देर होने से रोटियाँ सूख गई थीं । पर प्रदीप उन्हें बड़ा चबा-चबाकर प्रेम से खा रहा था। सामने काँपते हाथों माँ परोसती जा रही थी और प्रदीप सोच रहा था, 'कितना आश्चर्य हैं कि इस माँ ने जवानी में विधवा होने पर भी उसका गला घोंटकर नाली में नहीं फेंक दिया और पैसे से पलीत दुनिया में कुलाँचे नहीं भरी।' उसके दिमाग में पिछले पच्चीस वर्ष का सारा खाका घूम गया और उसमें मूसलों की गमगमाहट, चर्खे की चर्र-मर्र-चूँ और सबके ऊपर माँ के सफेद केश। प्रदीप ने सोचा, 'मैं तो इस माँ का वह सिक्का हूँ जिसे कभी-न-कभी भुनाने की इच्छा से उसने अपनी गिरह में बाँधकर छोड़ दिया है। और आज वह खो जाय तो'' '''सचमुच आज यदि उसके बुढ़ापे में खो जाय तो''''''!'

माँ की महामहिमता में उसका दिल गल गया और वह उसकी अधिक-से-अधिक सेवा करने के लिए आतुर हो उठा। कालेज जाने का विचार उसने आज स्थगित कर दिया। अपनी अलमारी से पाँच-छै मोटी-मोटी किताबें निकालीं, कई कप निकाले और उन्हें बाँधकर बाजार ले गया। इस सब धंधे से उसे पच्चीस रुपये मिले। इन रुपयों से उसने माँ के लिए कई आवश्यक वस्तुएँ खरीदीं—एक चादर, एक जूता, एक सुरमा सैट और वह सभी उसने माँ के चरणों में जब रखा तो माँ ने हँसते-हँसते कहा, "अरे बेटा यह सब अपनी दुलहिन के लिए लाता तो अच्छा लगता। मेरा क्या, अंधेरे का पैर हूँ।" पर प्रसन्नता से उसकी आँखें भर आईं।

दुलहिन के नाम पर प्रदीप पुनः गम्भीर हो गया। उसने पिछले एक दिन की घटनाओं और अपनी मनः स्थिति पर विचार किया। वास्तव में वह इन्सानियत से कितना दूर हट गया था।

सेवा से एक ही दिन में माँ का पेट जैसे भर गया था और अगले दिन वह कालिज जाने लगा।

कालिज जाते समय वह सोचता था। वह मालती को पाने के लिए वह किसके विरुद्ध विद्रोह करे। मालती के पिता या उन-जैसे अनेक पिताओं या इस सामाजिक विधान के विरुद्ध जिसका जर्रा-जर्रा शोषण और उत्पीड़न से भरा हुआ है। भावावेश में कई विचार उनके मस्तिष्क में ऐसे आये जो अराजकता से भरे थे। परन्तु शीघ्र ही उसने अपने मन की लगाम पकड़ ली और अपने को गैरकानूनी होने से बचा लिया।

आज क्लास में आचार्य मानव-प्रकृति के तत्त्वों पर भाषण दे रहे थे कि प्रकृति के सम्यक् विकास के लिए विरोधी तत्त्वों का-नारी और पुरुष तत्त्वों का होना आवश्यक है। परन्तु एक छात्र के प्रश्न से भाषण

लैंगिक आकर्षण पर आ टिका। आचार्य ने कहा कि स्त्री और पुरुष के विकास के लिए भी लैंगिक आकर्षण अत्यन्त सहायक है। यह प्राणी-मात्र की सहज स्वाभाविक शक्ति है। आयु के साथ यह शक्ति विकसित होती जाती है।

तत्त्व रूप से नारी और पुरुष समस्त प्रकृति में रमे हुए हैं। लैंगिक आकर्षण न होने से मानव के सम्पूर्ण पौरुष अथवा नारीत्व का विकास नहीं होता। आगे आपने कहा—लैंगिक आकर्षण वास्तव में धरती में ज्वालामुखी के समान तथा म्यान में धार के समान और जल में विद्युत् के समान छिपा रहता है। सामाजिक नियमों द्वारा उसके और भी समुचित विकास की आवश्यकता है।

एक प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा, "कायिक सम्बन्ध शरीर का स्वाभाविक धर्म है, किंतु हमारी साधना का अन्त नहीं है। खाद्यान्नों से शरीर में लैंगिक आकर्षण और उससे तेज, वीर्य तथा वासना और इन सबसे बौद्धिक विकास का आरम्भ होता है। लेकिन इनका नियन्ता हमारा अपना मन है।"

प्रदीप ने उठकर कहा, "प्रेम का जीवन में क्या स्थान आप बताते हैं?"

"प्रेम लैंगिक आकर्षण का ही दूसरा नाम है। शारीरिक शक्ति के अनुपात से प्रेम अथवा वासना की उद्दामता बढ़ती है और शारीरिक सम्बन्धों से उसकी क्षीणता, पर प्रेम साध्य नहीं, साधना भी नहीं, लैंगिक आकर्षण का लक्षण-मात्र है।"

"तो फिर इतिहास के इस अमर देवता प्रेम का क्या हुआ जिसने इतिहास को रक्त के सागर से लिखा और फिर भी न लिखा गया।"

पर आचार्य-प्रवर ने उसका विश्लेषण करने की कृपा न करके विषय

को ही टाल दिया। पर प्रदीप को संतोष नहीं हुआ, उसने कहा—"क्षमा कीजिए आचार्य, इस अंधकार को प्रकाश-किरण दिखानी हो पड़ेगी। मानव-विकास को समस्त संभव प्रेरणाएँ आज सिद्धांत और आदर्शों के नीचे दबी पड़ी हैं। इन रस्सियों से बँधा मानव एक विशाल शिला-खण्ड से दबा तिल-तिल घुट रहा है और पैसे के बल पर केवल कुछ लोग उत्तरोत्तर विकास और प्रेरणा के समस्त साधनों को खरीद रहे हैं। इस अभिसन्धि का भण्डाफोड़ करना ही होगा!"

प्रदीप के मुख पर आवेश आ गया था। आचार्य उसे देखकर मुस्कराने लगे, "प्यारे युवक यह राजनीतिक मंच नहीं है, विद्यालय का कमरा है। मैं तुम्हारी जिज्ञासा की प्रशंसा करता हूँ।"

प्रदीप के इस आवेश का मूल्य कोई समझा हो अथवा नहीं पर आचार्य-प्रवर अवश्य समझ गए। पिछले दो दिन से मालती इस बिभाग में आकर कई बार प्रदीप के बारे में पूछ गई थी। घंटा समाप्त होने के बाद आचार्य ने उसे यह सूचना दे दी।

पिछले दो दिन में प्रदीप के अन्तर में मालती को लेकर जो अन्तर्द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ था उसमें मालती के होते हुए भी, अब मालती बिलकुल नहीं थी। इन दो दिनों में प्रदीप को लगा कि उसकी भावनाओं के झारखण्ड में कहीं बिवेक का चन्दा झाँकने लगा है। आज मालती का मिलन उसके लिए चकवा और चकवी, सागर और चन्द्रमा का मिलन न था, वरन् प्रकृति की सर्वोच्च बिकासिनी शक्ति से अब जैसे उसका परिचय हो चुका था। अब वह न दरिया में कूद सकता है, न भाग सकता है और न कुत्सित कर्म से अपने को कलंकित कर सकता है। आज यदि वह बैरिस्टर की समानता नहीं पा सकता तो पाने का प्रयत्न नहीं करेगा।

मालती के इस परिवर्तित रूप से प्रदीप को लगा कि वह दुनिया का बड़ा-से-बड़ा त्याग करने की शक्ति बटोर सका है । और उसने अन्दर-ही-अन्दर गौरव का अनुभव किया।

कई दिन बाद आज मालती उससे मिली थी मालती और प्रदीप बगीचे की ओर बढ़ गए।

"मालूम है कितनी व्यग्रता में ये दो दिन कटे हैं," मालती ने कहा

"अनुमान कर सकता हूँ," प्रदीप ने उत्तर दिया।

"मेरे लिए अनुमान का समय नहीं है। बैरिस्टर रिश्ते की अन्तिम स्वीकृति के लिए कई दिन से आये हुए हैं !"

"सुखी होना हो तो बैरिस्टर से विवाह कर लो," प्रदीप ने कहा।

मालती स्तब्ध रह गई।

प्रदीप ने पुनः कहा, "मैंने तुम्हारे स्नेही, संसार-ज्ञानी पिता के विरुद्ध विद्रोह करने का विचार छोड़ दिया है । मैं अब जड़ता के खिलाफ विद्रोह करूँगा । मैं ऐसे मानव-समाज के निर्माण के लिए विद्रोह करूँगा जो झूठ, छल, फरेब, दगाबाजी और आडम्बर से रहित होगा, जिसमें दो सच्चे दिल आपस में निर्बाध मिल सकेंगे, जहाँ पैसे से सहमति और सचाई खरीदी नहीं जा सकेगी। मैं तुम्हारे और अपने-जैसे असंख्य अरमानों से भरे दिलों के लिए विद्रोह करूँगा।"

मालती उससे सटकर चल रही थी। वृक्षों की चोटियों पर उड़ती चिड़ियों को देखते हुए उसने ये शब्द कह डाले थे—वह सहसा मालती की ओर मुड़ा और भरी आँखों से उसकी ओर देखकर बोला; "तुम मेरी तरफ से मुक्त हो, मेरे लिए ठहरने की जरूरत नहीं है।" और उसने अपने होठ दाँतों के नीचे दबा लिए कि फड़क न उठें; कि उसका दिल पिघलकर बाहर न निकल जाय।

१३

घर की हवा

चारों गाँवों में यह शोहरत थी कि रामप्रसाद पाण्डे का दिवाला निकल गया है। इसी समस्या को लेकर कई बार लोगों में परस्पर बहस भी चल पड़ती थी। कुछ लोगों का यह भी कहना था कि बड़े लोगों का दिवाला इतनी जल्दी नहीं निकलता। "अरे, घर की छोटी-छोटी चीजें भी बेचें तो हमारी-तुम्हारी हस्ती बन जाय।"

खैर, लोगों का विचार कुछ भी हो, लेकिन जब पाण्डे जी इन बातों को सुनते तो उनके क्रोध की सीमा न रहती। एक बार जी चाहता कि अपने को दिवालिया कहने वालों की गरदन पकड़कर पूछें, "अबे, तेरे घर में कब से बिल्ले दूध के मटके फोड़ने लगे। पहले तो चूहों के खाने को एक दाना तक नहीं था।"

पाण्डे जी किसी तरह ग़रीबी के दिनों को आगे ढकेल रहे थे। लेकिन करते क्या, दुनिया जो चैन नहीं लेने देती। उनके मस्तिष्क में यह बात जम गई थी कि जब तक अफवाहें उड़नी बन्द नहीं होतीं, उनकी जिन्दगी चैन से नहीं गुज़र सकती। घर में बाल-बच्चे हैं, उनके शादी-विवाह होने हैं। 'घर की हवा' उड़ने पर कोई दो कौड़ी को नहीं पूछता। एक बार हवा उड़ी कि द्वार पर हाथी झूमने लगें, तब भी मोती की आब की तरह, गई हुई इज्जत लाख उपाय करने पर भी फिर नहीं लौटती।

पाण्डे जी हरदम क्रोध से भरे रहने लगे। प्रतिकार की भावना सदैव

उनके मस्तिष्क को उद्वेलित रखती। कभी-कभी वह यह भी सोचते कि अपने मुँह पर दिवालिया कहने वाले को वह इतना मारेंगे कि चाहे खून तक हो जाय। फिर प्रीवी कौंसिल तक मुकद्‌मा लड़कर वह दिखला देंगे कि पाण्डे जी क्या हैं और उनके रुसूख कहाँ तक हैं ?

पाण्डे जी इस अफ़वाह के विरुद्ध अपनी सम्पन्नता का सिक्का जमाने का केवल यही एक उपाय खोज पाए। इसी विचार को लेकर वे कई बार गाँव में निकले। लोगों की चौपालों के पीछे कान लगाकर बातें भी सुनीं और लड़ने की नीयत से ललकारकर सामने भी आये। लेकिन किसका सिर खुजलाता था जो उनसे झगड़ा मोल लेता। लोग जानते थे कि गरीबी ने उनकी अक्ल मार दी है। पाण्डे जी मन मारकर घर लौट आते।

लेकिन यह चर्चा, कि पाण्डे जी का दिवाला निकल गया, कम होने की अपेक्षा बढ़ती ही जाती थी। पाण्डे जी इस समस्या का निराकरण सोच नहीं पाये। उनकी प्रकृति भी चिड़चिड़ी हो गई थी। थोड़ी-सी बात में ही अपनी पत्नी से लड़ने लगते और अपने इकलौते बेटे को मार बैठते जिसको आज से पहले वह हज़ार-दो हज़ार की हानि होने पर भी कुछ न कहते थे।

पाण्डे जी सब-कुछ करते, किन्तु अफवाहों की चिन्ता उन्हें पुनः उसी ओर अभिमुख कर देती जिसके विचार को दूर करने के लिए वह अनुचित कार्य तक कर बैठते थे। पाण्डे जी एकान्त में बैठकर अपने को कोसते, "काश शोहरत न फैलती तो वह इतने क्रूर क्यों होते। अपने फूल-से बच्चे को वह क्यों मारते और प्रतिभा, जो अपने रक्त से अपनी नन्हीं-सी जान को पल रही है, उसके साथ निर्दयता का व्यवहार क्यों करते ? लेकिन यह सब गरीबी का ही कुसूर है। सचमुच, रामप्रसाद तेरा दिवाला तो निकल ही गया है, अन्यथा लोग यह सब कह ही कैसे सकते थे ?"

जब अकेले सोचते-सोचते पाण्डे जी थक गए तो उन्होंने प्रतिभा से सहायता लेनी चाही। उन्हें प्रतिभा के सहयोग के कितने ही अवसर याद आ गए। कुछ देर वह पत्नी की प्रशंसा मन-ही-मन करते रहे। उन्होंने समझा कि बस, समस्या का हल मिल ही गया समझो। उनका हृदय उछाह से भर गया। आँगन में जाकर आवाज दी तो प्रतिभा को यकायक विश्वास न हुआ कि इतने सरस शब्दों में वह प्रतिभा को पुकार सकते हैं। बच्चे की फटी कमीज हाथ में लिये वह बाहर निकली। बोली, "मुझे पुकारा था क्या?"

"अरे हाँ, तुम्हें ही तो? क्योंजी, तुम्हें तो अब पुकारना भी जैसे हमारा हक न रहा हो। ऐसी अनोखी बातें करती हो," पाण्डे जी सरस होकर बोले।

प्रतिभा को कुतूहल हुआ। प्रसन्नता से जी हुलस आया। भव्य ललाट पर कुछ चमक-सी आ गई। जैसे चिर काल का खोया सुख मिला हो। कहा, "फिर मैं उपस्थित तो हूँ!"

"उपस्थित क्या हो भई, अब तो सहारा ही तुम्हारा शेष बचा है। तुम्हें ही कोई इलाज निकालना पड़ेगा," पाण्डे जी अपनी धुन में कहते गए।

"आखिर कुछ कहेंगे भी?" प्रतिभा आहिस्ता से बोली।

"अरे क्या कहेंगे, क्या सुनेंगे। तुम अगर बाहर निकलतीं तो मुझे कहना ही क्यों पड़ता। सुना है, लोग यह मशहूर करना चाहते हैं कि रामप्रसाद पाण्डे का दिवाला निकल गया है। लेकिन कोई माई का लाल इतना हौसला रखता है कि रामप्रसाद के मुँह पर कह जाय। मैं तो दिवालिया बना ही बैठा हूँ; लेकिन चौहद्दी को दिवालिया न बना दूँ तो मेरा नाम रामप्रसाद नहीं। लेकिन प्रतिभा, अगर यह शोहरत फैलती गई तो हमारे बच्चों का क्या होगा। किसी का मुँह तो पकड़ा नहीं जाता!"

पाण्डे जी का चेहरा क्षणिक आह्लाद से चमक उठा था। किन्तु धीरे-धीरे उनके चेहरे पर फिर वही भयानक भाव छाते गए जो सदैव रहा करते थे। प्रतिभा ने उनकी भाराक्रान्त बुद्धि और द्रवित हृदय को देखा-उनकी अवस्था विकृति तक पहुँच चुकी थी। बड़ी-विनम्र होकर बोली, "मुझे भी क्या कुछ कम सुनने को मिलता है। कल ही एक पड़ोसिन आकर कह गई कि अब तो पाण्डे जी के नाते-रिश्तेदार भी खबर नहीं लेते। गरीबी ऐसी ही हो जाती है। मैं क्या कहती। बात ही ऐसी चल पड़ी थी।"

"लेकिन प्रतिभा, बच्चों का क्या होगा?"

आगे पाण्डे जी कुछ न बोले। सिर पर हाथ रखकर बैठे रहे। 'बच्चों' शब्द सुनकर प्रतिभा को उन नन्हीं-सी जान की याद आ गई जिसे वह अपने हृदय के रक्त से सींच-सींचकर पाल रही थी। दोनों बच्चों के लिए अच्छे भविष्य की कल्पना उसने की थी। पाण्डे जी के बारे में वह सोचती—एक तो यों ही ढलते दिन हैं, ऊपर से चिन्ता सवार। पता नहीं बुढ़ापा कैसे पार लगेगा?

बुढ़ापे की कल्पना करके उसे अपनी दुनिया उजड़ी हुई-सी लगी। बात का हल खोजते-खोजते वह बुढ़ापे का हल खोजने में अधिक उलझ गई। उसे पता भी न चला कि पाण्डे जी कब उठकर बाहर चले गए।

पाण्डे जी की चौपाल ऐसे स्थान पर थी जहाँ सूरज सबसे पहले आकर माथा टेकता था। पाण्डे जी एकान्त में बैठे हुए अपनी समस्या पर विचार कर रहे थे। शेष वातावरण भी निस्पन्द न था। पड़ोस की चौपालों से हुक्कों की आवाज ऐसे निकल रही थी जैसे आस-पास के तालाबों में मेंढक टर्रा रहे हों। पाण्डे जी भी भूले-भटके एक कश खींच लेते थे और सूर्य की सुनहरी रोशनी में, धुएँ के कण सफेद और काले होकर जैसे पाण्डे जी के अतीत को घोषित करते हुए

अदृश्य में विलीन हो जाते थे।

आज अचानक पाण्डे जी को उस अफवाह का प्रतिकार करने की एक सुन्दर युक्ति सूझ गई 'हाँ-हाँ, क्यों न वह किसी बड़े रिश्तेदार को दावत देकर यह दिखला दें कि उनके सम्बन्ध सबसे अब तक सही-सलामत है। किसी का खून करके मुकदमा लड़ाने से तो यह उपाय कहीं अच्छा है।'

पाण्डे जी ने योजना प्रतिभा के सामने रखी। कहा, "तो प्रतिभा, क्यों न रायबहादुर जी को ही बुलाया जाय। पैसे अधिक खर्च होंगे, लेकिन यह तबालत हमेशा के लिए सिर से हट जायगी।"

प्रतिभा को इस युक्ति की सफलता में यद्यपि कम विश्वास था तथापि वह पांडे जी को ऐसी अवस्था में किसी भी प्रकार की स्वीकृति देकर प्रसन्न करना चाहती थी।

तदुपरान्त पांडे जी खुशी-खुशी गाँव के मजदूरों के पास गये। उन्हें फुसला-बहलाकर राजी किया, "अबे, तुम लोगों को मालूम नहीं तुम्हारे यहाँ रायबहादुर जी आने वाले हैं। अपने बड़े-बूढ़ों से पूछो, निहाल कर देते थे। तुमने जिन्दगी-भर इतने इनाम-इकराम के सपने भी न देखे होंगे।"

पांडे जी का प्रसन्न चेहरा इस बात का साची था कि कुछ दाल में काला है जरूर। मजदूरों ने एक स्वर से कहा, "हुजूर, आप ही तो माई-बाप हैं। आप खबर न लेंगे, तो क्या वे लेंगे जिनके घर पर कल से फूँस पड़ने लगा है। आपकी दरियादिली.....।"

"अरे बस...बस, इतना न बढ़ो। रामप्रसाद तो हमेशा ही तुम्हारा खयाल रखता आया है। और आज वही दिवालिया मशहूर हो रहा है...!" आगे पांडे जी न कुछ कह सके, न सुन सके।

लोगों का सहयोग पाकर पांडे जी एकदम भीम की तरह काम में जुट गए। काम कराते समय पांडे जी की खिली बत्तीसी घोषणा करती जाती थी, "अरे क्या ऐसे ही ढंग होते हैं दिवालियों के···!"

जब मकान ठीक करते हुए राज-मजदूरों के बीच जाते तो हर समय उनकी जबान से कुछ-न-कुछ निकलता ही रहता, "अबे फलाने यह नहीं किया। अबे ढिकाने, बड़ी सुस्ती से काम कर रहा है। अरे करीमा, तुझसे कहा था कि आज से अपने भाई के यहां हमारे लिए अण्डे और मुर्गी रुकवानी शुरू कर दे।"

रायबहादुर की चिट्ठी आई थी कि वह आ रहे हैं। उनके साथ उनके मुसाहिबों का अमला भी जरूर होगा। इन चपरकनातियों के के, शगल का जब तक पूरा इन्तजाम न हो, यह किसी की बात नहीं रखने वाले। अगर थोड़ी पीने को और हो तो बस कहेंगे—"क्या बात है पांडे जी, वह दावत दी है कि बस···भई, बेमिसाल आदमी हैं पांडे जी···।"

यही शब्द पांडे जी के दिमाग में गूँजते रहते थे। पांडे जी पीछे के कमरे में पुरानी बोतलों को उलट-पुलट कर टटोल रहे थे। कितनी ही बोतलें ऐसी थीं जिन्हें पांडे जी ने बार-बार न पीने का प्रण करते हुए जमीन पर दे मारा था। आज वह प्रतिभा से डरते-डरते उस कमरे में घुसे थे। लेकिन किया क्या जाय, बात तो बनानी ही थी।

पांडे जी ने कई बोतलों में से उंडेलकर एक बोतल भर ली। अँधेरे में पता नहीं था, कौन-कौन-सी शराब एक साथ मिल गई। हालाँ कि पांडे जी यह जानते थे कि उन बोतलों में कितनी ही शराब ऐसी हैं जो दूसरी से मिलकर तेजाब की माफिक तेज हो जाती है। किन्तु चलो, कौन खुद पीनी है। लेकिन एक बोतल से होगा क्या! जब चलने

लगेगी तो एक तो स्वयं उन्हें ही चाहिए । चार आदमियों में बैठकर मना थोड़े ही किया जायगा । और फिर जब कि बात बनानी है ।

दौलत को बुलाकर कहने लगे—"अबे दौलत, जा शहर से कुछ ले आ ।"

"कुछ क्या पांडे जी ?" दौलत ने पूछा ।

"अबे कुछ क्या, यही कुछ खाने-पीने का सामान ।"

"अच्छा तो हुक्म हो जाय सरकार !"

"दौलत, तू जानता है, शहर से मेहमान आ रहे हैं । उनके लिए कुछ पीने-पिलाने के लिए चाहिए । हमारे नाम थोड़ी बोतल ले आ । दाम फिर पहुँचा देंगे । तू तो देख ही रहा है, खर्च को । तेरी तो साख है शहर में ।"

बोतलें भी आ गईं । न जाने क्यों लोग पांडे जी को उधार देने में नहीं हिचके । वह बहुत खुश थे कि ईश्वर उनकी मदद कर रहा है । पांडे जी हाथ के पैसे को सोच-समझकर खर्च कर रहे थे । क्योंकि मेहमानों के आने का समय आ चुका था और वक्त पर खर्च करने को भी तो कुछ पास चाहिए था ।

अगले दिन पांडे जी के यहाँ मेहमान आने वाले थे, इसलिए गाँव के लोग मकान देखने आये । सजधज को देखकर शत्रु तक दङ्ग रह गए । बैठक में आरामकुर्सियां और गद्देदार मूढ़े पड़े थे, जो घर में केवल ऐसे ही वक्तों के लिए सुरक्षित रहते थे ।

खाने-पीने का सब सामान घर में मँगाकर रख लिया था । कई दर्जन अण्डे, कई मुर्गियां । दूसरा सामान गांव में बन्दूक के बल पर मिलता है, सो न पांडे जी की बन्दूक में गोलियां थीं और न शिकार खेलने की उमङ्ग ही ।

अपनी तरफ से निश्चिन्त होकर पांडे जी प्रतीक्षा करने बैठे, किन्तु आने का समय हो जाने पर भी जब कोई न आया तो उन्हें बैठे-बैठे बेचैनी-सी महसूस होने लगी। वह निकलकर गाँव से कुछ दूर चले गए और मेहमानों को आया न देख आगे बढ़ते ही चले गए। पांडे जी को अपने पर स्वयं आश्चर्य हो रहा था कि वह इतने उतावले क्यों हो रहे हैं। जब उन्हें आना है तो आ ही जायँगे। पांडे जी लौटने वाले ही थे कि उन्हें मोड़ पर दो गाड़ियाँ आती दिखीं। पांडे जी रुक गए। गाड़ियाँ पास आ गईं। रायबहादुर की ही थीं। पांडे जी बोले, "क्यों भई, खैरियत तो है?"

राम-रहीम के बाद गाड़ीवानों ने बतलाया कि रायबहादुर ने डेरे भेजे हैं, ताकि पहले से लगवा दें ताकि वक्त पर असुविधा न हो।

पांडे जी अप्रतिभ-से हो गए। फिर एकदम उबल पड़े, "क्यों भाई, रायबहादुर मेरी झोंपड़ी में नहीं रह सकते थे? बड़े आदमियों की यह बददिमागी ही तो उनके सर्वनाश का कारण होती है। डेरे भिजवाए हैं। चारों तरफ अच्छी तरह रोशन हो जाय कि पांडे जी के रिश्तेदार उनके घर में डेरे डालकर रहते हैं।"

गाड़ीवान को अपने मालिक का यह अपमान जैसे अरुचिकर लगा, "यही खराबियाँ तो होती हैं, पांडे जी छोटे-बड़ों के मेल में।"

गाड़ीवान के मुँह से निकलकर यह बात पांडे जी के मुँह पर चपत के समान पड़ी। दिल में पांडे जी ने गलती महसूस की कि उन्हें यह बात नौकरों के सामने कहनी ही न चाहिए थी। उन्होंने फिर बात बनाई, "छोटे-बड़े का सवाल नहीं है भैया! अगर कह देते तो डेरा मैं ही लगवा देता। मेरे यहाँ क्या कमी है डेरों की।"

"ठीक बात है। रायबहादुर भी छोटे-बड़े में इम्तियाज नहीं करते।

डेरे तो उन्होंने औरतों के लिए भेजे हैं। कहा है, हमारी तरफ से पांडे जी से माफी माँग लेना। उन्हें बहुत जरूरी काम से मसूरी चला जाना पड़ा। बच्चे आ रहे हैं। इन्हें गाँव दिखला दें।"

यह कहने के बाद गाड़ीवान बोला—"आइये, बैठ लीजिए पांडे जी!"

"नहीं, चले आओ तुम आराम से।"

पांडे जी की रही-सही हसरतों पर भी पानी फिर गया। उन बोतलों का क्या होगा। मुर्गी, अण्डे, लिपाई-पुताई, मकानों की मरम्मत और सैकड़ों रुपयों का अलावा खर्च। औरतों की महिफल तो मैंने नहीं कराई। ओह, तेरा सत्यानाश हो रायबहादुर!

पांडे जी गाड़ीवानों के साथ न चल सके। दूसरे रास्ते से घर आते-आते उनके दिमाग की हालत बदल चुकी थी। उन्हें डेरे लगवाते-लगवाते ही कुछ थकान-सी महसूस होने लगी—"क्यों न थोड़ी-सी पी लूँ। आखिर रायबहादुर का अमला तो आयगा नहीं जो कभी का डर हो।"

प्रतिभा ने यह खबर सुनी तो बहुत खुश हुई। यह उसके विवाहित जीवन में दूसरा अवसर है कि उसकी ननद आ रही है। उसने स्वयं भी आज सँभलकर कपड़े पहने और किरन को पहनाये, "देखो किरन, आज घर में मेहमान आ रहे हैं। साथ में एक भाई और बहन भी होंगे। हाँ, तुम भी राजा बेटा बन जाना, शरारत न करना···।"

किरन की उत्सुकता बढ गई। दौड़कर अपने पसंद के कपड़े निकाल लाया। पूछता जाता था—"अम्मा, वे लोग मुझसे बड़े हैं कि छोटे··· क्या क्या खेल जानते होंगे वे···क्या उनके पास भी मोती-जैसा कोई कुत्ता है···और माँ, मेरे मोती का पट्टा भी बदल दो।"

माँ ने मोती का पट्टा भी बदल दिया। नई जञ्जीर उसमें डाल दी। किरन खूब उछला-कूदा। भाई-बहन के विषय में कल्पना करता रहा। कभी-कभी आतुर हो पूछ लेता, "अम्मा, क्या वे नहीं आयँगे अब ?"

जहां डेरे लगे थे, वह स्थान पाण्डे जी के मकानों से घिरा हुआ चौक था। पाण्डे जी की बैठक चौक के बिलकुल सामने थी ! पाण्डे जी बैठक में इसलिए लेट गए थे कि मेहमानों के आने पर वह वहीं से उठ खड़े होंगे। किन्तु थोड़ी देर बाद उन्होंने फाटक भी बन्द कर लिया। मेहमान नवाजी का कोई उत्साह उनमें शेष न था। एक आदमी ने आकर घर में खबर दी कि मेहमान आ रहे हैं। प्रतिभा ने पांडे जी को न देख कर उन्हें खोजा। बैठक में गई। सोये पड़े हैं। आवाज देने पर जब कभी पलकें खुल जाती हैं, तो आँखों की सुर्खी तेजी से चमक उठती है। प्रतिभा घबराई नहीं। अपने जीवन के कितने ही सुकुमार वर्ष उसने इन आँखों की सुर्खी की भेंट किये हैं। किन्तु उसे गहरा सदमा लगा, "पाण्डे जी को फिर कोई गहरा आघात लगा है। वरना छोटी-सी बात के लिए वह उसकी अनुरोधपूर्ण शपथ कैसे तोड़ सकते थे ?"

प्रतिभा ने मेहमानों को भली प्रकार डेरों में ठहरा दिया। मन ही मन कहने लगी—'भगवान्, आप एक दिन शबरी के घर उसका मान करने पधारे थे। क्या आजकल के बड़े ऐसे नहीं होते। काश यह डेरे न लगाते तो वह इतनी वेदना क्यों अनुभव करते। भगवान्, तूने तो मेरी बिगड़ी और बिगाड़ दी ?'

किरन जिस कुतूहल से भाई-बहन को देखने की इच्छा से उछल रहा था, उसी दृढ़ता के साथ अब वह छिपने लगा। माँ कहती, जाओ किरन, मेहमानों के पास खेलो।" लेकिन किरन को लग रहा था कि वे

लोग एकदम विदेशी हैं। जब उनकी पोशाक ऐसी है तो न जाने कैसे बोलते होंगे। किरन डेरों से दूर ही भागता जाता। उसकी हालत अजीब थी। न पास आते ही बनता था और न दूर जाते ही।

एक बार किरन डेरे की ओर चला हो गया। नाटक की नायिका की तरह शरमाकर एक ओर खड़ा हो गया। सब लोगों ने किरन की गोरी, स्वस्थ देह, मोटी-मोटी आँखें और आबदार मुखमण्डल को देखा। बुआ ने किरन को पास बुलाकर अपने गृह-सदस्यों से उसका परिचय कराया, "हरीन्द्र, यह तुम्हारा भाई किरन, और यह तुम्हारी बहन कमलिनी। नाम याद रहेंगे, बेटा''कमलिनी मिठाई खिलाओ अपने भाई को?" किरन ने एक निगाह सबकी ओर दौड़ाई। उसने देखा एक और भी औरत एक चमकीली साड़ी में लिपटी बैठी है। वैसी औरत तो उसने पहले देखी नहीं थी! उसे बुरा लगा कि उससे उसकी जान-पहचान क्यों न कराई गई। उसकी सुन्दरता में उसने कुछ आन्तरिक आह्लाद, कुछ स्वाद-सा अनुभव किया।

कमलिनी किरन को अपने डेरे में ले गई। कमलिनी की अवस्थ ११ वर्ष की थी किन्तु किरन को वह उतनी न लगी। उसने अपने गाँव में कोई भी ११ वर्ष की लड़की इतनी बड़ी नहीं देखी थी। कमलिनी ने किरन और हरीन्द्र के लिए एक-एक प्लेट मिठाई लगाई और स्वयं हँस-हँसकर दोनों को खिलाने लगी। किरन को लगा, अगर वह एक महीना भी कमलिनी के पास रह जाय तो बहुत मोटा हो जाय।

प्रतिभा को किसी से मिलने का अवकाश न था। यद्यपि खाने का आयोजन उसे स्वयं नहीं करना था तथापि वस्तुओं की माँग इतनी बहुतायत से थी कि उसे हर समय चौके में उपस्थित रहना पड़ता था। ननद के साथ नौकरानियाँ भी आई थी। केवल वही उनकी पसन्द का खाना

बना सकती थीं। आज की रात आई तो हरीन्द्र और कमलिनी ने अपने विचार प्रकट किये कि किरन उन्हीं के पास सोयगा। अम्मा को यह बात अच्छी न लगी। कमलिनी को यह बात न सूझी कि जब वह एक कुत्ते को अपने पास सुला सकती है तो किरन को क्यों नहीं सुला सकती। भाभी की भी यही राय है कि हमारा दिल लगा रहेगा। लेकिन अम्मा ने कमलिनी को एक ओर बुलाकर कहा, "आखिर तू जिद क्यों कर रही है।"

कमलिनी ने कहा—"इसमें जिद की क्या बात है अम्मा! हरीन्द्र भी तो कह रहा है।"

"तो हरीन्द्र को ही क्यों पास नहीं सुला लेती। अपने भाई को पास न सुलायगी और गैरों को चिपटाती फिरेगी। उसको मुँह न लगाओ। देहाती लड़के बड़े चोर होते हैं?"

किरन सकपकाया-सा बाहर बैठा था। उसे सब-कुछ सुन पड़ रहा था।

किरन के देर तक डेरों में रहने के कारण उसका मोती उसे न पा सका। वह पाण्डे जी के कमरे में जाकर खूब भौंका और चूँ-चूँ करता रहा। आखिर पाण्डे जी की आँख खुल ही गई। सँभलकर पलंग पर बैठे तो डेरे से कुछ फुसफुसाने की आवाज उन्हें भी आई "देख तो कितना गंदा है। तेरे भाई के पैरों की धूल भी नहीं। जिद न कर बेटा! उसे न सुला। तेरा सब-कुछ चोरी कर ले जायगा।"

पाण्डे जी उसके भाव को किंचित् समझ गए। नशा उतर गया। उस फुसफुसाहट का जो कुछ अर्थ पाण्डे जी समझ सके, उसे मन में रखकर उन्होने किरन को अपने पास बुलवा लिया।

सुबह उठकर पाण्डे जी ने जब जरा कुछ हल्का दिल महसूस किया

तो बहन से मिले—बहन अन्तर में रुष्ट थी कि भाई के इतने दिमाग थे। घर आई बहन का स्वागत भी नहीं किया। बहन ने छूटते ही कहा—"रामप्रसाद भैया, अब तो अच्छे दिन मालूम पड़ते हैं। मुझे पता होता तो वह भी चले आते? उन्होंने आने से यों इन्कार कर दिया कि फिजूल तुम पर भार पड़ेगा। खैर, अपनी बात तो तुम अलग छोड़ो उन्हें गरीब आदमियों से न जाने क्यों बड़ी मुरौवत है।"

किरन को बुआ ने दुलारने के लिए अपनी कुर्सी के पास खड़ा कर रखा था। बहुत देर खड़ा रहने पर उसने गोद में आराम से बैठना चाहा। किंतु उसके ऊपर खिसकर गोद में बैठने के हर प्रयत्न को बुआ निष्फल करती रही। झुँझलाकर वह अपने पिता की गोद में चला गया। बुआ बोली—"किरन को तो पढ़ा-लिखा लेना, वरना यह भी तुम्हारी तरह रह जायगा—जैसे तुम्हें बुरी-बुरी आदतें पड़ गई हैं। अपने जीजा को ही देखो। जब तुमने उनसे रिश्ता तय किया था तो राय बहादुर कहाँ थे और अब तो सारी सरकार उनके कंधों पर चलती है। उनके दम पर इस घर की हवा एक बार उस दिन बँधी थी जब पाण्डेयों के घर वह शानदार बारात आई थी और आज भी उनके दम से इस घर की आबरू है।"

पाण्डे जी कुछ न बोले—अपनी बहन से उन्हें इतनी मर्मभेदी अवहेलना की आशा नहीं थी। चुपचाप उठकर चलने लगे। पीठ पर से बहन ने फिर पुकारा—"कल हम चले जायँगे रामप्रसाद!"

पाण्डे जी घर में न घुसे। सीधे गाँव से बाहर चले गए। देर तक उन दिनों की याद करके रोते रहे जब पिता मौजूद थे। जब घर में पैसा था और चौहद्दी में उनकी धाक थी। अब जिधर पासा फेंकते हैं, उल्टा ही पड़ता है। पाण्डे जी खूब रोये और रोते ही गए जब तक रोने के प्रति उनके हृदय में घृणा न हो गई। सोचा, "रामप्रसाद तूने

रेत के किले बनाने चाहे। तूने रेगिस्तान को समुद्र समझना चाहा। किंतु पगले, इस तृष्णा की क्या बिसात ? तेरे घर को हवा को एक आँधी का झोंका उड़ाकर ले गया।"

पाण्डे जी सोचते-विचारते घर लौट रहे थे। दोपहर के गये थे, अब शाम हो चली थी। चिराग में बाती डालती एक पड़ोसिन कह रही थी, "देखो जी पाण्डे जी की बहन अजब दिमाग वाली है। उस बेचारे ने सैकड़ों रुपया मकानों की मरम्मत में लगवा दिया और वह डेरे डलवाकर बैठी है। उस बेचारे की आबरू को जरा न रखा··· !"

आगे चले तो फिर सुना—"इस पाण्डे की फिर चाँद पिट गई। बड़े घर में मेल करना ऐसा है जैसे हाथी के साथ चींटी का रिश्ता करना······।"

पाण्डे जी को लगा कि उसके पड़ोसी उनसे बेहद सहानुभूति रखते हैं। नाहक ही वह उससे सिर तोड़ने की फिराक में घूमा करते करते थे। काश, वह अपने बड़प्पन की झूठी मर्यादा से तोड़कर अपने पड़ोसियों में मिल-बैठकर अपना दुःख बटाते तो उसका सर्वनाश क्यों होता ? साथ-ही-साथ कितने महाजनों की भूखी आँखें उन पर छाने लगी। बैठक में पहुँचते-पहुँचते उन्हें मूर्छा-सी आने लगी। सँभलने के लिए उन्होंने थोड़ी पी लेनी चाही। देर तक बोतल की गर्दन पकड़े अन्तर से संघर्ष करते रहे और अनेक बोतलों में से इकट्ठी की गई शराब की पूरी बोतल खाली करके लेट गए और फिर कभी न उठ सके !

१४

अपना पराया

जिस सड़क की बात हम कर रहे हैं, उसका नाम तिलक रोड है। शहर से बाहर जाने वाली यही सड़क है। शहर के बड़े लोगों ने इस सड़क को दोनों ओर से बाग-बगीचों से सजा दिया है, लेकिन यातायात का आधिक्य होने के कारण सड़क की हालत बुरी हो गई है। शहर के मनचले नौजवान, मुनीम और क्लर्क, इन बागों में लगे चम्पा, जूही, और चमेली के फूल कान में खोंसकर भी जब दिन-भर की थकान नहीं उतार पाते तो इन बाग वालों को लाखों गालियां मिलती हैं। क्योंकि चप्पलों और गठे हुए जूतों के अन्दर उनके अधढके पैर कंकड़ियों से लोहू-लुहान हो जाते हैं।

लेकिन इस सड़क पर सब गालियाँ ही देने वाले नहीं गुजरते। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो इस सड़क के कभी ठीक न होने की मनौतियाँ मनाया करते हैं। ये लोग पैरों से सड़क की कंकड़ियों को टेनिस की बाल की तरह उछालते चलते हैं। दुआएँ देने वाले लोगों की संख्या बरसात में और भी अधिक बढ़ जाती है। सेठों के दायरे से बाहर निकले आम जब टपकते हैं तो यह लोग उन्हें उठाकर टेंट में दे लेते हैं और घर जाकर अपने बच्चों की जेब में डाल देते हैं।

इसी सड़क पर, आगे चलकर, सेठ वीरेश्वरनाथ की शुगर-फैक्टरी है। वह दिन-रात ऐसे लोगों का उत्पादन और भक्षण करती जाती है। सड़क के दूसरे किनारे पर एक झील है। झील पर बत्तखों का झुण्ड दूर

से कमल-दल-सा प्रतीत होता है। इस झील और बागों के बीच फैक्टरी के मजदूरों की झोपड़ियाँ हैं जिनके अस्तित्व का पता फैक्टरी से निकलने वाले काले-काले धुएँ के बादलों से ढके रहने के कारण कभी लग ही नहीं पाता।

इसी सड़क पर आज एक विचित्र और साथ ही बहुत साधारण-सी घटना घटित हो गई। कई दिनों की वर्षा के बाद आसमान खुला था। सेठ वीरेश्वरनाथ का कुत्ता नौकर के साथ घूमने निकला था। सूरज की सुनहरी किरणों को पीता हुआ कुत्ता कभी इस वृक्ष पर बैठे पक्षी की ओर उछलता था तो कभी उसकी ओर। किन्तु मनचाही स्वच्छन्दता न मिलने के कारण वह नौकर की 'गुलाम प्रवृत्ति' पर चीखकर झुँझला भी उठता था।

सेठ के नौकर और कुत्ते का यह संघर्ष चलता रहता अगर पास के एक पेड़ से सड़क पर दो-तीन आम न टपक पड़ते और झील पर बैठा बत्तखों का झुण्ड कुत्ते का ध्यान अपनी ओर न खींच लेता। नौकर ने कुत्ते के पीछे घिसटने की अपेक्षा उन आमों की ओर लपकना अधिक बेहतर समझा। मुक्त बाघ की तरह भेड़िये की शक्ल वाला कुत्ता कुलाँचे मारकर झील के निकट पहुँच गया। किंतु उसे देखकर झील पर बैठी बत्तखों ने उतनी चीख-पुकार नहीं मचाई जितनी कि उन बच्चों ने, जो झील के किनारे छोटी-छोटी झाड़ियों के पीछे साँझ के झुटपुटे में 'नित्य-क्रिया' सम्पन्न करने आए थे।

बच्चों की भीड़ एकदम चीखकर बेतहाशा झोपड़ियों की ओर भागी। कुत्ते को जैसे यह एक नया खेल मिल गया। उसे मसखरी सूझी और एक बच्चे की ओर कुलाँचे भरकर वह बढ़ गया। बच्चा भागा—भागते-भागते उसके कई बार ठोकर लगी—खरोंचें आ गईं और खून

चमक आया। लेकिन कुत्ता अपनी ही धुन में उसके पीछे भागता रहा। बच्चे की चीख सुनकर कई मजदूर झोंपड़ियों से बाहर निकल आए। उस लड़के के भाई ने लाठी उठाई और अपने भाई को बचाने भागा। लेकिन कुत्ता मैले-कुचैले बड़े छोकरे की इस चुनौती को न बर्दाश्त कर सका। लाठी के मुकाबले में उसने उछलकर उस लड़के के कन्धे अपने दाँतों में दबोच लिए।

अब यह बात कुत्ते के खेल तक ही सीमित नहीं रह गई। दोनों लड़कों का बाप लाठी लेकर बाहर निकला। अवसर देखकर उसने कुत्ते के सिर पर लाठी दे मारी। कुत्ता खून टपकाता नौकर की ओर भागा जो पंजों पर अपने जिस्म को तौलता हुआ मामले को समझने का प्रयत्न कर रहा था।

मजदूर लाठी लेकर आगे तक बढ़ आया और उसने नौकर की भी अच्छी तरह खबर ली। मजदूर का बेटा मृतप्राय पड़ा था। उस पर खून सवार था। नौकर अपने सिर से खून चुआता हुआ, कुत्ते को लेकर, मालिक के घर की ओर चल दिया।

सेठ जी ने जब यह मामला सुना तो आपे से बाहर हो गए। उनकी आँखों के सामने उनका प्यारा कुत्ता पड़ा कराह रहा था। सेठ रेशम फुँकवाकर उसके घाव भरवा रहे थे। नौकर सेठ के कीमती रूमाल को जलाता हुआ एक दूसरे रूमाल को उड़ाने का उपक्रम कर रहा था। कनौतियों के पैंतरे बदलते हुए बोला—"हुजूर, बुजुर्गों की कसम, कुत्ता भौंका तक नहीं। नाहक ही लाठी चला बैठा बदकार। इतने पर सब्र न हुआ तो मेरे हाथ की हड्डी ही तोड़ डाली। अब खिदमत कैसे बजा सकूँगा, हुजूर!" नौकर ने पूर्ण हाव-भाव के साथ अपने और कुत्ते के दर्द की समानता घोषित की।

दूसरे समय नौकर को, चाहे वह मर ही क्यों न गया होता, बूट की ठोकर ही मिलती, किन्तु चूँकि सेठ के कुत्ते पर प्रहार करना स्वयं उन पर प्रहार करने से कम न था, इसलिए खिदमतगार को चार सिपाही लेकर मजदूर को पकड़ लाने का हुक्म मिल गया।

मुनुआ अपने बेटे के घावों पर पट्टियाँ बाँध रहा था। आँखों के आँसुओं का 'आयोडीन' पड़ने से लड़का बार-बार विकल हो उठता था। मुनुआ उसकी पथराई-सी आँखों को देखकर घुला जा रहा था। अपने बेटे को उसने माँ और बाप दोनों बनकर पाला था। उसकी वेदना देखकर माँ की हीतरह ही बार-बार वह फूटकर रो पड़ता था। पड़ोसी भी उसकी सुबकियों को सुनकर जड़वत् चारों ओर खड़े थे।

इतने में सेठ का खिदमतगार चार सिपाही लेकर आ धमका। मुस्तैद सिपाहियों के लट्ठों को देखकर पड़ोसी दुम दबाकर भागे। मुनुआ श्रान्त हो गया। सिपाही उसे पकड़कर ले चले। मुनुआ ने उनका विरोध नहीं किया। वह विरोध कर ही न सका। बेटे की आँखों में झलकती आकुलता ने जैसे उसके शरीर का समस्त शौर्य चूस लिया था।

मुनुआ सेठ के सामने पेश हुआ। इस बार सेठ जी अकेले न थे। चिलमन के पीछे विभावरी भी आकर खड़ी हो गई थी—स्वामी की प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर उसके ओठों का कौतूहल, उसके फड़कते अङ्गों के मुकाबले में, अधिक वेग से नाच रहा था। उसकी लचकीली देह, उसका समस्त सौंदर्य, उत्सुकता में उमड़ा पड़ता था।

किंतु मुनुआ की आकृति देखकर उसका सौंदर्य जैसे पथरा गया। उतनी ही तेजी से उसकी उत्सुकता न्याय की प्रतीक्षा में भी निरत हो गई।

"पाजी हरामखोर, टुकड़े खिला-खिलाकर तुम्हें इसलिए पालता हूँ कि मेरे ही खून से होली खेलो!" सेठ ने मुँह खोला—"चाण्डाल, बता कि तूने मेरे कुत्ते को मारने की हिम्मत कैसे की!"

बूटों की ठोकर खाकर मुनुआ निस्तेज पड़ा रहा। उसे पता न था कि उसने अपने सेठ के कुत्ते को मार डाला है। फिर भी घबराता हुआ बोला—"हुजूर, मेरा बच्चा······मुझे छोड़ दीजिये हुजूर!"

मुनुआ सेठ के चरणों के निकट पड़ा था। उसके नेत्रों में बेटे की मूर्ति घूम रही थी। विभावरी की नज़र सेठ और मुनुआ के दरम्यान बिजली की गति से दौड़ रही थी। सेठ का उदर और मुनुआ के पुट्ठे खूब चमक रहे थे। मुनुआ की कातर वाणी ने सेठ के बूट की ठोकर को रोक दिया। किंतु खिदमतगार ने तत्काल उन्हें सहारा दिया।

"झूठ बोलता है, सरकार! कुत्ता इसके बेटे की जर्राही करने कहाँ जाता!"

"झील के किनारे मेरा लड़का······!"

बीच में ही खिदमतगार बोल उठा—"अबे सरकार का कुत्ता तेरे बेटे के मैले पर गिरेगा। हरामजादे, जमीन का गिरा शोरवा तक तो वह चाटता नहीं।"

सेठ को यह फिजूल की चख-चख अच्छी नहीं लगी। वह न्यायाधीश बनकर अपनी खोपड़ी नहीं खपाना चाहते थे। कहा, "भगाओ हरामजादे को यहां से!"

मुनुआ लड़खड़ाता-सा उठ खड़ा हुआ। सेठ अन्दर चले गए। चिक की आड़ में विभावरी की अस्पष्ट छाया उनकी आँखों में तैर रही थी। चिक को ऊपर उठाकर सेठ ने अपनी आँखों को सरस कर लेना चाहा। किंतु विभावरी का कोमल हृदय जैसे अन्याय की ठिठुरन के खिंचाव से

तरेड़ खा गया था। उसकी आँखों में हल्की सुर्खी थी। ओठों की सुर्खी कई बार दाँतों से ओंठ काटते रहने पर भी, सारे मुँह पर मुखर थी। सेठ को उसने मुँह न खोलने दिया। बोली, "मुझे यह न मालूम था कि आपके हृदय में इतनी पशुता भी भरी है।"

आँखों की जो लाली सेठ को जवानी की शराब-सी लगती थी, वह इस समय उनके कलेजे के पार निकल गई। गम्भीर स्वर में बोले—"पशुता क्या होती है जी!"

"यही कि तुम भी, अपने कुत्ते की तरह, उस गरीब पर टूट पड़े। ऊपर से उसको ठोकर मारकर न्याय भी कर दिया। रोटी उन्हें मारकर नहीं, जिलाकर खाई जा सकती है," विभावरी साधिकार बोली।

"लेकिन यह रोटी मेरे इन हाथों की कमाई है!" सेठ ने अपने स्थूल हाथों की मुट्ठियाँ मींड़ते हुए कहा—"बैरिस्टर की बेटी; गरीबों को लड़ा-लड़ाकर तुम्हारे बाप की तरह मैं अपनी जेब नहीं भरता। मैंने दो-दो रुपए के खोन्चे से शुरू करके यह मिल खड़ी की है। मैं चाहता तो उसकी खाल उधेड़ डालता। मेरे कुत्ते को मारना मुझे मारना है!"

विभावरी ने इतने भयङ्कर अपमान की कल्पना तक न की थी। उसने सोचा था कि बूढ़े चीते की तरह, तरुण मृगी की खरोंचों को पाकर, वह प्रेम से सिहर उठेगा। किंतु सेठ तो उसे चुनौती-दे रहे थे। व्यंग करके वह पीछे हटी—"हाँ, कुत्ते ही जब इंसानों को प्यारे हों तो फिर क्या कहने। आपने तो आरम्भ से ही कुत्तों को प्यार किया है। अफसरों की मेमों के कुत्ते, हसीनों के कुत्ते और···!"

"खामोश, आगे ज़बान न खोलना। अगर उस मुस्टण्डे की सूरत आँखों में इतनी उतर आई तो उसके पास चली जा सकती हो। ज़रा

अपनी सूरत तो देख, लेतीं शीशे में !" सेठ एकदम उबाल खाकर चले गए।

संध्या का अन्धकार गहरा हो आया था । विभावरी हिल-डुल भी न सकी । सेठ के इस आरोप से वह एकदम तिलमिला गई थी । साधारणतया किसी भी नारी के लिए यह सब-कुछ नवीन नहीं, किंतु विभावरी के लिए यह असम्भव था । सच देखा जाय तो इसी असम्भव को सम्भव बनाने के लिए उसने वीरेश्वरनाथ से शादी की थी । एक सफल बैरिस्टर की इंसाफ-पसन्द गोद में पलकर उसका मन और मस्तिष्क उन्मुक्त दौड़ता था । कालिज से फिलासफी में एम० ए० की डिग्री लेकर उसने जो एक अधेड़ से शादी की, वह भी इसीलिए। उसे विश्वास था कि बूढ़ों की पत्नियाँ संसार में सबसे अधिक सुखी रहती हैं। किस्मत से वीरेश्वरनाथ विधुर, अधेड़ और अतुल धन-राशि का स्वामी भी था जो चाहे विभावरी की देह का स्वामी भले ही बन जाय, किंतु विभावरी की आत्मा तो पैसे की चट्टान पर चढ़कर अपने आदर्शों की बाँग लगा सकेगी । उसे शरीर से कोई मतलब नहीं । वह तो क्षणिक है । यह भी नहीं कि विभावरी वीरेश्वरनाथ को उपेक्षा की दृष्टि से देखती हो । सेठ के खिचड़ी होते बालों में उसकी नरम उच्छृङ्खल अँगुलियाँ खूब घूमी थीं, किंतु वीरेश्वरनाथ के आज के रूप ने तो उसे हिमालय की चोटी से ढकेल दिया था । भावश्लथ, निर्जीव-सी वह अपने कमरे में जा गिरी । पश्चात्ताप की आग अन्दर-ही-अन्दर ज्वालामुखी के लावे की तरह दहक रही थी । कमरे की टिमटिमाती हुई बत्ती उसने बन्द कर दी । तकिये में मुँह छिपाकर वह सुबकती रही । आँसुओं की अविरल धारा से भीगी उसकी भावपूर्ण अलकें गालों पर चिपक गई थीं ।

जवानी की क्षणभंगुरता आज पहली बार उसे बुढ़ापे की अमरता से

अधिक आकर्षित प्रतीत हुई। काश वही मज़दूर जिसको वीरेश्वरनाथ ने ठोकरोंसे मारा था, अगर उसका पति होता तो अपने आदर्शों की पूर्ति में उसे अधिक बल प्राप्त होता। अपने भावुक जीवन के भविष्य का उसने जो खाका बनाया था, उसके अस्त-व्यस्त हो जाने पर, सारी रात वह उस चित्रकार की तरह असफल चित्र बनाती रही जिसका मॉडल टूट गया हो।

वीरेश्वरनाथ के दिमाग में अचानक तैश आ गया था। अपनी ही स्त्री से अपमानित होकर उन्होंने पहली बार महसूस किया कि एक शिक्षित और सुन्दर युवती से शादी करके उन्होंने अच्छा नहीं किया। शादी के इन विचारों ने उन्हें कमला की याद दिला दी—"ओह, कमला कितनी अच्छी थी।" कमला की अच्छाई से आश्वस्त होने के लिए वह कमला के चित्र की ओर मुड़े। कमला की सीधी-सादी आकृति गोद में बैठा नन्हा-सा शिशु। शिशु की याद करके सेठ को लगा कि विभावरी जैसे उसके वंश को नेस्त-नाबूद करने के लिए ही पैदा हुई है। वह बच्चे पैदा करके कलियुग के क्रूर इन्सानों की संख्या नहीं बढ़ाना चाहती। वाकई उसने गर्भाशय निकलवाकर उन्हें निस्संतान होकर मरने पर मजबूर किया है। विभावरी सेठ को पापाचारिणी, कुलटा, अभागी लगी और कमला की गोद में बैठे नन्हें की ओर उनका ध्यान अधिक चला गया। आठ वर्ष हुए नन्हा खो गया था। आज वह बारह वर्ष का होता–घर भरा होता! नन्हें के चित्र ने उन्हें वह पुरानी घटना स्मरण करा दी। मिल से आते हुए उसकी टमटम पर कुछ गुण्डों ने आक्रमण कर दिया था और बच्चे को उठाकर वे भाग गए थे। बाद में बीस-बीस हजार की कई किश्तें गुण्डों को देकर भी अपने बच्चे को वह न पा सके। तभी से उन्होंने कुत्ता पालना आरम्भ किया। उससे पहले वह कुत्तों पर पैसा खर्च करना एक ऐसा गुनाह समझते थे जिसमें

कोई भी रस नहीं होता। लेकिन नन्हें के गायब होने के बाद से कुत्ते पालने की उनको भावना अँगरेजों से भी आगे बढ़ गई।

उस दिन से विभावरी और वीरेश्वरनाथ एक दूसरे से खिंचे-खिंचे रहने लगे। विभावरी को इस घटना ने जैसे प्रकाश-पुञ्ज प्रदान कर दिया था। सेठ वीरेश्वरनाथ से शादी करके वह महानता की ओर कदम बढाना चाहती थी। लेकिन उसका यह त्याग खोखला निकला। उसे विश्वास था कि पैसों के बल पर बहुत कुछ कर सकेगी। लेकिन इस घटना ने उसके जीवन का जैसे नक्शा ही बदल दिया। उसके फूल से चेहरे पर थोड़े से समय में चिन्ता की रेखाएँ उभर आईं।

वीरेश्वरनाथ कुछ दिन तो क्रोध के प्रवाह में बहते रहे। किन्तु चार दिन में ही विभावरी के बिना उनका मन उस बूढ़े कबूतर की भाँति छटपटाने लगा जिसकी कबूतरी, चाल धीमी होने के कारण, उसे पीछे छोड़ किसी दूसरी छतरी पर जा गिरती है। अनेक बार विभावरी से बोलने का वह प्रयास करते, किन्तु उधर से उत्तर केवल कठपुतलियों की भाषा में ही मिलता। आखिर सेठ को अपने शक पर विश्वास करना पड़ा। निश्चय ही उसके मन में उस मजदूर की शक्ल गड़ गई है। उन्होंने अपनी तरफ से पुनः एक प्रयोग करना चाहा। बालों में वह कई बार खिजाब लगाने लगे, कपड़े जरा चटखदार पहनने लगे। इसकी प्रतिक्रिया वह उसके ऊपर ताड़ते रहते। जब इसका कोई परिणाम उन्होंने न निकलता देखा तो क्रुद्ध होकर वह एक बैठक में ही अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

विभावरी को अब स्वतन्त्रता से अपनी समस्या पर विचार करने का अवसर मिल गया। वह अपने बाग में जाकर मजदूरों की 'झोंपड़ियों को सैर करती हुई अपनी भावुक कहानियाँ गढा करती, "इन्हीं

झोपड़ियों में वास करती हैं वे माताएँ जिनके सपूतों के हाथों की कमाई खाकर मैं यहाँ विलास-क्रीड़ा रचाने चली थी। मेरा यौवन, मेरी महत्त्वाकांक्षाएँ, सब इन्हीं की हसरतों के खून तो हैं !"

विभावरी रोई नहीं। अन्तर में उसके रस ही कहाँ था जो आँसू बनकर उमड़ आता। उसने कितने ही उपन्यास पढ़े थे; कितनी ही क्रान्तियों के सूक्ष्म अध्ययन भी किये थे। यह सब पढ़कर ही उसके मन में कुछ करने की चाह पैदा हुई थी। किन्तु अब जीवन के यथार्थ से उसने पलायन करना चाहा। अपने छोटे से जीवन में वह यह पहले ही जान चुकी थी कि किसी गरीब से शादी करके वह सुखी न रह सकेगी। वह यह भी जान चुकी थी कि गरीबी वह आग है जो इन्सान की स्नेह-राशि को सोखकर उसे नीम की सूखी लकड़ी की तरह छोड़ देती है। उसने इसी कारण एक धनी को अपना साथी चुना था। आज समस्या उसके सामने केवल यही थी कि क्या इन्सान का हृदय स्नेह और ममता से बिलकुल शून्य हो गया है। बेचारे गरीब मजदूर के बेटे को कुत्ते से नुचवा डाला और स्वयं उसे जूतों की ठोकरों से पिल-पिला कर दिया। जिनकी कोई कहने वाला नहीं, कोई सुनने वाला नहीं—न शासन, न समाज और न उनका निर्माता। आखिर वह कौन-सा तत्त्व है जो इन्सान को इतना रूखा कर देता है। वीरेश्वरनाथ अपने किये को गलती नहीं मानते ! वह कौन शक्ति हो सकती है जो उन्हें यह सिद्ध करके दिखा दे कि वह उनकी गलती थी और जो उन्हें पश्चात्ताप की अग्नि में तपा दे। पति के रूप में उनका सहयोग पाना हमेशा क्या उसे अभीष्ट रहा है। क्या आज निराश होकर उसे उनका वह रूप हृदय से निकाल देना होगा। यह बुढ़ापे की ठिठुरन असंख्य कामाग्नियों की प्रचण्डता से क्या किसी तरह भी कम है। उसका यह पथ नहीं था। भगवान् जानता है, वह इस सबसे घृणा

करना चाहती है। किन्तु अपनी गलती को सहन करना भी आज उसके लिए नर्क से अधिक बदतर हो गया है ।

विभावरी यही सब सोचा करती—चुपचाप अकेली। सेठ वीरेश्वर-नाथ का क्रोध भी किसी हालत में कम नहीं होता था । ज्यों-ज्यों वह विभावरी के विषय में सोचते, उनकी घृणा उतनी ही चमकती जाती। विभावरी की आकर्षक चितवन, उसकी मादक देह-यष्टि, उसका अपरिमित ज्ञान, उन्हें ऐसा प्रतीत होता कि उनकी निर्बलता की डोंडी पीटते चले आ रहे हैं। उसे समाज में निकलने की इजाजत देकर वह कभी अपनी नाक उन छोकरों द्वारा काटी जाती अनुभव करते जो रात-दिन उनकी जूतियां चाटने के लिए तैयार रहते हैं। एकान्त पाकर सेठ लोगों से अपने पुराने दिनों की याद करके, छाती तानकर, कह उठते—"समझती हैं, हम कुछ भी नहीं। अरे, जब पैसे के साथ जवानी भी थी तो इन लोगों ने हमें क्या-क्या नहीं माना और आज का यह मोटा पेट, जिसे सब घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जवानी का रस पीकर ही तो मोटा हुआ है। करें सब इससे घृणा लेकिन मुझे और मेरे शहर को इस पर गर्व है।"

विभावरी से विमुख हो जाने का केवल वही छोटा-सा एक कारण सेठ को ज्ञात था। इसे वह उसका दिमागी फितूर समझते थे । इसी कारण वह विभावरी को अपमान और उपवास दोनों से तपाकर अपने काम का औरत बनाना चाहते थे। कोठी से क्षण-भर के लिए हटना उन्हें मुनासिब न दीख पड़ता था। उन्हें प्रतीत होता था कि विभावरी की तारों सी आँखें नौकरों के दिल को पिघला देने के लिए काफी से अधिक हैं। विभावरी को उसी कमरे में भोजन पहुँचा दिया जाता था; जहाँ उसे एक बार पटक दिया गया था। यह देखकर उसे उतनी ही पीड़ा होती जितनी कि जख्मी इन्सान को खरोंच खा जाने परम हसूस होती हैं।

अपर्याप्त होते हुए भी वह भोजन को गले के नीचे नहीं उतार पाती थी। सेठ का दिल यह देखकर और भी प्रसन्न होता था। इससे उन्हें अपना मकसद जल्द-से-जल्द हासिल होने की आशा थी।

किन्तु विभावरी के जीवन में एक ऐसी अपरिचित शान्ति थी जैसे कोई भूखा और क्लान्त पथिक अपने लक्ष्य पर पहुँच गया हो। वह तो अपनी गलती का प्रायश्चित्त कर रही थी। निराश होकर कभी-कभी यहाँ तक सोचने लगती कि क्या वास्तव में मानवता के कल्याण की भावना उसके अन्दर थी। जवानी की लहराती हुई उमंगों पर उसके पढ़ने-लिखने की छाया-मात्र एक निरी भावुकता ही तो थी। अगर ऐसा नहीं था तो एक बूढ़े से शादी करना, एक धनवान् के हाथों बिक जाना, कहाँ तक जीवन की प्रगति का द्योतक कहा जा सकता है। क्या धन की नाव पर बैठकर जीवन की लहरों से केलि करना भर ही उसका ध्येय न था!

आज जैसे ही खाना उसके कमरे में आया, उसने कोठी के सामने एक फकीर की दीन वाणी सुनी। उसे सुनकर वह खाना न खा सकी उसने नौकर से कहा कि उस फकीर को वह सब खाना दे आए। लेकिन सेठ को यह सह्य न हुआ। उन्होंने सोचा, उनके घर की शांति भङ्ग करने वाले ये मजदूर और भिखमंगे ही हैं। गरजकर नौकर को हुक्म दिया— 'निकाल दो हरामजादों को ठोकरमार कर! एक शोर मचा रखा है!"

यह कह वह स्वयं बाहर आकर खड़े हो गए। नौकर के साथ कुत्ता भी छलाँग मारता आगे हो लिया। मैदान में तीन व्यक्ति खड़े थे। जर्जर काया को लिये एक अन्धा जो अपनी झोली सँभाल रहा रहा था और दो बच्चे जो उस अन्धे की काया को अपने कन्धों का सहारा देकर सँभाले हुए थे। कुत्ते की भों-भों सुनकर अन्धे ने हाथ की

लाठी जमीन पर फटकारी । कुत्ते को भगाने के लिए इतना पर्याप्त समझकर बूढ़े ने लड़कों से कहा, "बेटा. आवाज लगाओ। कोई सखी देगा।"

किन्तु बच्चों के मुँह से आवाज न निकली । लाठी फटकारते ही कुत्ता इन दोनों पर झपटा और उसने एक बच्चे की बाँह चबा डाली। सेठ जी कुत्ते को बिगड़ा देख दौड़कर आए, किन्तु तब तक काम हो चुका था।

बच्चे को सँभालते-सँभालते जैसे सेठ पर वज्रपात हुआ। उस मृतप्राय ढाँचे को लेकर जमीन में डूबते चले गए। नौकर को आवाज देकर फौरन पिस्तौल लाने को कहा और पिस्तौल आने पर एक हाथ से बच्चे को सँभा-लकर दूसरे से कुत्ते को निशाना बना दिया। कुत्ता चीं-चीकर तत्काल चित हो गया। अन्धा और उसका दूसरा बच्चा अप्रत्याशित विपत्ति के भय से अचेत हो जमीन पर गिर पड़े ।

सेठ का गर्जन विभावरी सुन चुकी थी। किन्तु गोली के शब्द ने उसके शांत मानव को टंकारकर जगा दिया था। उसने सोचा फकीर को सेठ ने मार डाला है। उस फकीर की लाश पर प्राण देने के लिए वह तड़पकर भागी थी, उसके धैर्य की दीवार को सेठ की गोली भेद गई थी।

किन्तु नीचे जाकर जो दृश्य उसने देखा, उससे उसे अपनी दशा का ज्ञान हुआ और उसने अपने अस्त-व्यस्त वालों को साड़ी के छोर से ढक लिया। सेठ एक बच्चे को घुटनों पर लिये आँखों से आँसू बहा रहे थे। विभावरी आवेश में आ जाने के कारण अपने शरीर का संतुलन न कर सकी। अब उसकी बारी थी। तड़प कर उसने-कहा, "लेकिन इस कुत्तां को क्यों मार डाला। कुत्ते का दोष नहीं था। हमारे कुत्ते को मैले और भूखे शैतानों के दुस्साहस सहने की आदत नहीं है!"

एक बूढ़े नौकर ने विभावरी को आगे बढ़कर टोकते हुए कहा "अपने पराये का भी खयाल नहीं सेठानी ! अपने भाग्य समझो कि आठ साल का खोया बच्चा मिल गया।"

सेठ के होंठ हिले—साथ ही आँसू ऐसे चू पड़े जैसे वर्षा की बूँदें वायु के झोकों से वृक्ष की डालों पर से झड़ पड़ी हों।

१५

बात की बात

एक बंगला, चारों ओर एक मनोरम उपवन से घिरा। उपवन के मुख्य द्वारों पर ग्रीक मूर्ति-कला को चित्रित करती दो स्फटिक मूर्तियाँ यौवन के उन्माद और नृत्य के आलोड़न से ओतप्रोत जिन पर विद्युत बल्ब अपने अस्तित्व से भाषा बना रहे हैं—कला-भवन !

कला-भवन के मुख्य द्वार से लेकर मुख्य भवन पर लाल सड़क बिछी है। सड़क के सामने वाली मेहराब तैल चित्रों और मूर्तियों से आभूषित है। मेहराब के ठीक सामने एक विशाल नृत्य-भवन बना है। जिसके एक कोने में नृत्य-मंच बना हुआ है। इस कमरे में धीमा-धीमा नीला प्रकाश भर रहा है जिससे प्रतीत होता है कि आज यहाँ कोई चहल-पहल होने की उम्मीद नहीं। मुख्य द्वार और मेहराब के एक दो प्रहरियों के पद-चाप को छोड़कर समस्त वातावरण एकान्त-निस्पन्द है।

नृत्य-भवन के दाएँ किनारे एक कमरा है जिसकी छत अधिक ऊँची नहीं, जिसकी सज-धज कतई अनुराग-विहीन है। अन्दर झाँकने से दृष्टि अनायास उलझ जाती है, विश्व-विश्रुत नर्तकियों और कलावन्तों के चित्र दीवारों पर लगे हैं। जिनके मध्य विश्व-वन्द्य जगज्जननियों के चित्र ताजे फूलों की मालाओं से अलंकृत हैं। कक्ष की भित्ति से प्रकाश उगलता बल्ब उनके अस्तित्व को प्रखर किया है।

इस सामान्य कक्ष के भीतर एक रमणी दीवारों पर लगे चित्रों का निरीक्षण कर रही थी, जैसे उन चित्रों की आत्माओं के जीवन पर मनोयोगपूर्ण

चिन्तन करती चल रही है और जिस चित्र को देखकर उसकी भावनाएँ उभार खाती हैं, उसकी कामदार जूतियों की लरज उसे वहीं घोषित करती चलती हैं।

कला-भवन की इस साम्राज्ञी का नाम चन्द्रकला है और पूर्णिमा के चन्द्र की भाँति ही उसकी विमल रूप-राशि कई एक माननीय कलाओं से अलंकृत है । नृत्य और संगीत में वह अपना सानी नहीं रखती, उनका भवन उसकी सफलता का प्रशंसा-पत्र है। चन्द्रकला अकिञ्चन से स्वामिनी बनी है, इसी का इतिहास वह दीवार में लगे चित्रों में पढ़ रही है। जहाँ आकर वह ठिठक गई है, वह उसका आज से दस वर्ष पूर्व का चित्र है और उस चित्र के ठीक नीचे एक कद्-आदम आइना लगा है जो किसी तर्कशास्त्री की तरह सफलतापूर्वक यह इंगित कर रहा है कि चन्द्रकला तेरे दस वर्ष के जीवन में तुझमें बहुत परिवर्तन हो चुके हैं, तूने किसी साध के पीछे उन्हें देखा नहीं···। विचार-निमग्ना वह कुर्सी पर हथेलियों में मुँह छिपाकर बैठ जाती है । क्षणोंपरांत एक दूसरी महिला अन्दर प्रवेश करती है । उसके मुँह पर हास्य खेल रहा है, देह कोमल और इकहरी है, किन्तु गति में प्रौढ़ता, सञ्जीदगी है । एक क्षण ठहरकर वह बोलती है—"कला, मधुरिमा कहाँ है, मैं खोज रही थी, और यह सिर पर हाथ कैसे है ?"

"कौन है ? ओह गुलशाद···क्या कह रही थी।" जैसे यकायक जागकर वह कहती है ।

"उदास क्यों है, यों ही पूछा।"

"नहीं तो, उदासी तो इसे नहीं कहा जा सकता । मैं तुम्हें याद ही कर रही थी । देखो तो वह दीवार नें लगा मेरा चित्र···इसे ही देखती रही," चन्द्रकला उठने लगी।

गुलशाद के कन्धे का सहारा लेकर उठ खड़ी हुई, "बोलो न गुलशाद, जी चाह रहा है कि बीते दिनों की याद किये जाऊँ ।

गुलशाद उसकी मुखाकृति को ध्यान से देखकर कहती है, "अरे क्या देखूँ, कोई मुकाबला भी हो । कहाँ आज की कला और कहाँ यह गाँव की जाहिल औरत । भला मुकाबला करने बैठीं । बच्ची कहाँ है ?

चन्द्रकला ने उत्तर नहीं दिया और गुलशाद ने उत्तर को प्रतीक्षा भी नहीं की । मधुरिमा को खोजने वह बाहर निकल गई । चन्द्रकला अपने चित्र को निहारती रही, और उसका अन्तर बोलता रहा–यही तो सोचती हूँ । इस अबोध नारी ने समाज के हाथों भयंकर यातनाएँ सही और आज की चन्द्रकला संसार के समस्त ऐश्वर्य को ठोकरों पर उछालती जा रही है । क्या दोनों का मूल्य एक ही है ? दाम्पत्य की वेदी पर चढ़ी यह अबोध नारी और कला के सर्वोच्च शिखर पर विलसने वाली आज की चन्द्रकला क्या दोनों एक ही स्थान पर खड़ी हो सकेंगी ? कला को अपने जीवन पर आत्मग्लानि-सी हुई । किंतु उसकी विरोधी भावना ने जैसे उसे बल दिया, "ठीक तो है समाज की बलि पर चढ़ने वाली, अपने सीमित नारीत्व को लेकर असमय में कुचली जाने वाली नारी की प्रतिभाओं के उचित प्रयोग का ही तो प्रतिफल चन्द्रकला है ।" जीवन मे अपनी आत्मा के अनुकूल करते रहने पर जो अनुताप की कालिमा अंतस में भरी थी मानवीय भावनाओं के विद्रोह ने उन पर क्षणिक प्राबल्य पाया तो, किंतु मधुरिमा का ध्यान आते ही जैसे उसका नारीत्व अपनी असफलताओं पर रो उठा—'उफ ! अपनी बेटी को वह उस कलारूपी आत्म-विक्रय के बाजार-भाव पर नहीं चढ़ने देगी । मधुरिमा आज की विकृत—चन्द्रकला की आत्मजा नहीं है, वह यातनाओं के पथ में पग-पग पर अपने नारीत्व और मातृत्व को सफल करने वाली "चन्द्रो" की बेटी है ।'

चन्द्रो की याद करते ही वह बहुत देर तक एकटक चित्र को देखती रही। इसी खामोशी में से निकलकर एक दृश्य उभर आया जब उसका एक-मात्र अवलम्ब उसका पति इस दुनिया से और अपनी चन्द्रो से नाता तोड़ रहा था। "मेरी लाज रखना चन्द्रो···बिटिया का खयाल करना। तुम्हारे चरित्र की पवित्रता ही इसके हाड़ मांस बनकर दुनिया के सामने खिलेंगे। तुम्हारी जिन्दगी की ऊँच-नीच सब इस से देखी जायगी।" आज के जीवन में पुनः विगत आत्मा के इन शब्दों की उस मांग को पूरा करना उसे मुश्किल काम लगता है। इसीलिए आज की कला कल की चन्द्रो को—अपने से बड़ा मानती है, वह उसकी पूजा किया करती है और उससे बल प्राप्त करने का प्रयास करती है।

गुलशाद ने मधुरिमा को पकड़ ही लिया। और वह अपने साथ-साथ चन्द्रकला तक भी ले आई। बोली, "देखा लाड़ली' कमरे में राधा के चित्र के सामने खड़ी कमर मटका रही थीं। अभी से इतना चाव उमड़ रहा।"

मधुरिमा लजाती खड़ी रही। गुलाब की कली के समान अविकसित उसके मुखमंडल की लालिमा लज्जा से घनीभूत हो गई। गुलशाद ने अपने अंचल में छिपाते हुए कहा, "क्यों बेटी—तू नाचना सीखेगी न? अम्मा का कहना तो नहीं मानेगी?"

चन्द्रकला ने गुलशाद की बात पर ध्यान नहीं दिया। मधुरिमा से बोली, "खाने-पीने का कुछ खयाल नहीं-कहाँ थीं तुम?" गुलशाद खाना लेने बाहर गई। चन्द्रकला मधुरिमा को गोद में ले उस चित्र की ओर संकेत करती रही। बेटी से कहती रही कि पहचानो तो बेटी यह तुम्हारी अम्मा का फोटो और अपने को भी पहचानती हो।

चन्द्रकला शायद इसी प्रकार भावना में बहती रहती अगर बाहर

से गुलशाद भागी हुई न आती। गुलशाद ने आते ही कहा—"कला, साह जी आ रहे हैं।"

"लेकिन साह जी ने तो आज न आने की सूचना दिला भेजी थी। फिर क्यों?" चन्द्रकला को साह जी का आना कुछ अच्छा नहीं लगा तुम ऐसा तो नहीं कह सकतीं। अब आ ही गए तो धक्का नहीं दिया जा सकता। तैयार हो जाओ, वह सीधे यहीं आ रहे हैं।" गुलशाद ने कहा।

"अच्छा तो वहीं रोको बड़े कमरे में, मैं वहीं आ रही हूँ, मधुरिमा को इधर न आने देना।"

साह जी नगर के सबसे बड़े धनाढ्य और कला-प्रेमी व्यक्ति हैं। उन्होंने आज तक चन्द्रकला के व्यक्तित्व की ही आराधना नहीं की, उसकी कला को भी पूजा की है। उनकी कला की क्षमताओं का शोषण साहजी ने दानवी रूप से नहीं किया। अगर चन्द्रो के हृदय में किसी गरीब इन्सान के लिए जगह थी तो चन्द्रकला के हृदय में साह जी के लिए उतना ही आदर है और उस आदर के साथ चन्द्रकला का सर्वस्व भी। किन्तु फिर भी आज साह जी का आना उसे अरुचिकर लगा। जल्दी से वस्त्राभूषण पहनकर वह स्वागत-कक्ष में चली गई।

साहजी नित्य की तरह मस्ती से झूमते आये। दिल की उमंगों को अपने उन्मत्त हास-विलास में उँड़ेलते आये। आँखों में मदिरा की ज्योति भरे ज्यों ही वे बैठने लगे, चन्द्रकला सटकर गद्दे पर बैठाने आगे बढ़ गई। साहजी खिलखिलाते हुए बोले, "ओह कला कितनी गर्मी है। और तुमने कितने कपड़े पहन रखे हैं। बाप रे··बाप!" मुँह से विषैली वायु निकलकर चन्द्रकला के चेहरे पर भपाक से लगी और शराब का जहर उसके सारे शरीर को गर्म कर गया। उसने बात टालने के लिए कहा।

"कला पर इतनी कृपा क्यों ? उसके सामने अपने को क्यों भूलते हैं।"

साह जी अपने भारी-भरकम कपड़ों को देखकर मुस्कराये, लेकिन मदिरा के एक वेग से, विलुप्त जैसे कोई भावना एकदम उभार खा गई हो, बोले—"कला, क्या तुम्हारा यौवन अब ढल गया है, मुझे तो ऐसा नहीं दीखता ?"

चन्द्रकला इस प्रश्न से आश्चर्यान्वित हुई और निष्प्रभ भी, किन्तु यह अवस्था अधिक देर तक न रही, उसने उत्तर दिया, "आशिक-मिजाज इस गुण को इश्क का सबसे अच्छा गुण मानते हैं।"

साहजी को याद न आया कि आगे प्रसंग कैसे बढ़ायँ। नर्तकी ने उसकी विचार-धारा काट दी थी, लेकिन चन्द्रकला को यह प्रश्न शूल की तरह चुभ गया। साहजी से कभी ऐसे प्रश्न की आशा उसने नहीं की थी। यह उसे क्षमा कौन से दिल से कर दे। देर तक भयंकर खामोशी रही। अन्त में साहजी बोले, "ठीक तो है अगर लोग कहते हैं साहजी की चन्द्रकला का जमाना उतर चला तो बकते हैं—उसकी कला तो अमर और अजर है। मैं उसी का पुजारी हूँ।"

"लेकिन शायद उम्र के उतर जाने पर उसके निर्बल और शिथिल अंग उस कला की भी सृष्टि नहीं कर पायँगे। आपको तो उस अवस्था तक के लिए भी—कानों को अभ्यस्त बना लेना पड़ेगा।" चन्द्रकला संतोष से बोल उठी। साहजी की बात उसे विवेकयुक्त जान पड़ी थी।

"हाँ, हाँ ठीक तो कहती हो ! उस हालत में तो मेरे लिए कोई भी सहारा नहीं रह जायगा।" और अपने खोये वेग को पुनः प्राप्त करके बोले, "तब मुझे अपनी इज्जत रखने के लिए कुछ और प्रबन्ध करना ही पड़ेगा, यही तो कहने के लिए मैं आज बिना सूचना दिये चला आ

रहा हूँ। तुमने इसका कोई प्रबन्ध किया ?"

चन्द्रकला को साह की बुद्धि के ठीक होने में कुछ सन्देह हुआ, क्योंकि वह बुरी तरह शराब पिये था। और एक के बाद एक विरोधाभास पैदा करता जाता था। एक बार ही वह कह देना चाहती थी कि मेरी उम्र के ढलने तक आप अपने इस शरीर के भार को भी उठा तक न सकेंगे किन्तु वह अन्दर-ही-अन्दर अपमान महसूस करके बोली नहीं। दाँतों से होठों को काटती रही और अपने अन्तर से उसे घृणा करती रही। उसने गुलशाद को पानी लाने के लिए आवाज दी। गुलशाद मधुरिमा को भोजन करा रही थी। उसे छोड़ चली आई। पीछे मधुरिमा भी चली आ सकती है यह उसे याद नहीं रहा। घर में आए नव आगन्तुक को देखकर वह गुलशाद के दामन के पीछे छिपकती आई। इससे किसी को उसका आना ज्ञात न हुआ। लेकिन साह की आँखों से वह बच नहीं सकी। वे बोले "यह लड़की कौन है गुलशाद ?"

"कौन लड़की" गुलशाद और चन्द्रकला के मुँह से एक ही साथ निकला।

"सामने बुलाओ, ऐसी भी क्या चोरी ! मालूम पड़ता है हमारी कला पहले से ही भविष्य की ओर जागरूक रहती है।" साहजी ने दोहराया।

मधुरिमा कला की ओर बढ़ गई। गोदी में बैठने लगी। साह के नेत्र उसके मुँह पर जम गए। कहने लगे—"इस हीरे को अब तक हमें क्यों न दिखलाया, कहाँ से पाया इसे ?" साहजी ने कहा।

"ऐसी बातें न कहें कृपा कर''गुलशाद ले जाओ इसे।" चन्द्रकला घबराती रही।

"क्यों नहीं कला'''''मैं तुम्हें दाद दिये बगैर नहीं रह सकता,

जरा जवानी आने दो तुम्हें भी मात न कर गई तो मेरी देखने वाली आँखें फोड़ देना।" साहजी ने ऐसे होंठ चलाये जैसे डाल का पका आम खा रहे हों।

"आपकी ही बेटी है ?"

"यह मेरी बेटी···मेरी बेटी वेश्या बनेगी ?"

"मेरी चीज को भी तो आज तक आप अपनी ही मानते आए हैं। मेरा मतलब इसी नाते से था। किन्तु फिर भी इसकी कला का आप किसी प्रकार भी लाभ न उठा सकेंगे। शायद साहबज़ादे उठा सकें।" चन्द्रकला ने मजाक की ओर बात फेरनी चाही।

लेकिन साह जी ने उसे मजाक में नहीं लिया। उन्हें ताव आ गया, "यानी तुमने जिस तरह मेरे पैसे का खून कर दिया उसी तरह इस कीड़े को भी मेरे वंश की जड़ में लगाना चाहती हो। मैं अपने बेटों को अपनी आंखों के सामने न बिगड़ने दूँगा।"

"तो क्या दुनिया भर की कलाप्रियता और सौन्दर्यप्रियता का ठेका आप ही ने ले लिया है। अपनी बेटी को आपकी विलासी गोद में खेलने देकर मेरी आत्मा को भी ठेस लग सकती है ऐसा कभी आपने न सोचा होगा।" कला को आवेश चढ़ आया था।

"तुम्हारी लड़की···अरे जैसी तुम, वैसी तुम्हारी लड़की ! तो क्या वह सीता-सावित्री की कन्या है ? तुम्हें मेरे सामने ऐसा बोलते शर्म नहीं आती-जिसने तुम्हें घाट-घाट का पानी पीने वाली दानवी से इन्सान की शक्ल दी।" साह जी गरमाते गये।

गुलशाद क्या बोलती ? चन्द्रकला का कोई कसूर न था। साहजी की नौकर होकर साह को सीख कैसे दे ? जब दिल पर राज करने वाली ही असफल रही तो उसकी क्या बिसात ? ऊँची आवाज सुनकर आस-पास से नौकर भी दौड़ आए। चन्द्रकला के जोवन में ऐसे अवसर

पहले नहीं आये थे यह बात नहीं, किन्तु जीवन के दूसरे पहलू और उनकी विकृति देखकर वह सब पी गई है आज जब अंदर की घुटन अपनी सीमा पार कर गई तो उसका विवश नारीत्व उसके अतीत के मैल को आँसुओं से धोने लगा था और वह अंदर से बिखरती आ रही थी।

उस भयंकर वातावरण में चन्द्रकला कुछ अधिक न बोल सकी, "यह मेरी लड़की नहीं हैं साह जी? जिसकी धरोहर है उसी को सौंप आती हूँ, फिर अगर आकर आपके लिए कोई नया चमन गुलज़ार कर सकी तो अवश्य करूँगी। मेरे कहे को क्षमा करें···।"

उसी तरह वह बालिका का हाथ पकड़कर बाहर चल दी। आँसुओं का अन्धड़ नेत्रों से बह रहा था, किन्तु जैसे जख्म से मवाद फट निकलता हो, उसका अन्तर हलका होता जा रहा था। केवल बात की बात थी जिस चन्द्रकला ने जीवन की बीहड़ता के वशीभूत होकर आज से दस वर्ष पहले खुशी से गुलशाद के मकतब में दाखिला मंजूर किया था वह अपने उसी अतीत को एक झटका देकर तोड़ चुकी थी और अब उन बीहड़ताओं से मुकाबला करने खड़ी हो गई थी। गुलशाद, साह और उनका भृत्यवर्ग खड़ा देखता रहा। कल तक की गुलबाला आज कला-भवन को छोड़कर चली गई·····।

१७

लम्बी नाक

आइने का गुण कहा जाता है कि वह व्यक्ति के गुण-दोष प्रगट कर देने वाले तटस्थ आचार्य के समान है, किन्तु कभी-कभी इस आचार्य से किसी अरमान भरे हृदय का ऐसा खून होता है कि वह इसे अपना शत्रु ही मान बैठता है। सरस्वती आइने को अपने शत्रु से कम नहीं समझती। अपनी सहेलियों के मध्य वह कभी किसी आइने के समक्ष न टिकेगी। यदि कभी भूल से भी वह खड़ी रह गई है तो यही अपमानजनक हास्य-फव्वारे उसकी लम्बी नाक की आलोचना करके उसके कानों को बींध उठे हैं।

अपनी लम्बी नाक के पीछे सरस्वती रात-दिन ईश्वर को रटती हुई भी नास्तिक बन गई है। एकान्त में बैठकर वह ईश्वर के अन्याय और अपनी लाचारगी पर कितनी ही बार सिसक-सिसककर रोई है। आज प्रातःकाल अम्मा ने एक नया संवाद सुनाया है तभी से ऊपर अपने कमरे में जाकर ईश्वर की समस्त सृष्टि को सज्जनोचित विवेचना करने की उसकी इच्छा है। ऊपर सरस्वती का विशेष कक्ष है। जिसमें आदम-कद एक आइना लगा है। उसके सामने ही एक पलंग पड़ा है। सुनते हैं सरस्वती की अम्मा दहेज़ में लाई थी, और जो सरस्वती को ऐसे ही अवसर पर देने के लिए अभी तक अप्रयुक्त सुरक्षित रख छोड़ा गया है। इस पलंग पर बैठकर उसने कुछ-कुछ हल्कापन अनुभव किया। तदुपरान्त एक हल्की गुदगुदी उस समाचार और पलंग को लेकर उसके

दिल में प्रादुर्भूत हुई। उसने आइने में अपना बिम्ब देखकर कहा, "क्या हुआ जो उसकी नाक मुख पर थोड़ी-थोड़ी असंगत लगती है। इस दुनिया में उससे भी कुरूप मानव हैं। और फिर ऐसा इस दुनिया में कौन है जिसमें कोई दोष न हो। मेरी आँखें हैं कि हिरनी भी शरमा जाय। मेरा देह है कि कंचन भी फीका पड़ जाय। और मेरे उभरते अरमान और सोलह वर्ष······।" यहीं आकर तो वह लाल मुख किये कमरे से निकलकर भाग गई। अम्मा के दिये गए समाचार से अपनी इस भावना का सम्बन्ध जोड़कर तो स्वयं उसने दाँतों तले उँगली दबा ली कि वह इतनी उच्छृङ्खल कैसे हो उठी।

समाचार के साथ सरस्वती को आज्ञा मिली है कि वह ऊपर कमरे को सजा डाले। सरस्वती उसका पालन कर रही है। किन्तु काम करते हुए उसके अन्तर में विचारों का ऐसा तूफान उठता है कि वह मुग्धा की भाँति घर की किसी भी चीज को एकटक निहारती रह जाती है। उसे नहीं मालूम कि वह क्या साफ कर चुकी है। क्या शेष रह गया है। पलंग के पास टँगे सितार को भी न जाने क्या समझकर पटक बैठी। सितार के तारों की झंकार के साथ उसकी चेतना लौटी।

सरस्वती यौवन की ड्योढ़ी पर खड़ी ही नहीं है, उसने दो कदम आगे भी बढ़ा लिए हैं। ऐसी तन्द्रिल और स्वप्निल वह अक्सर हो जाती है। दुनिया के निर्मम व्यंगों के आघात जब-जब उसे लगे तब ही इस सितार की तन्त्रियों ने वह विष उसके हृदय से निकाल बाहर कर दिया है। आज भी सितार को सँभाल सरस्वती अन्तरिक्ष में बसी नई दुनिया को साकार देख सकी। सितार पर अनायास उसकी अँगुलियाँ थिरक उठीं।

शीघ्र ही सितार की ध्वनि को चीरकर एक तीखी ध्वनि उसके

कानों में पड़ी, "नीचे मेहमान आ चुके हैं, और वह राग अलाप रही है। इन्हीं लक्षणों से वह पार उतरेगी।"

सरस्वती को सितार की ऐसी मधुर ध्वनि की ऐसी विकृत प्रति-ध्वनि सुनकर खेद हुआ, किन्तु साथ ही पश्चात्ताप भी हुआ कि अवश्य उसे कुछ हो गया है, जिसके लिए अम्मा सदैव उसे फटकारती रही है।

घर-भर मेहमानों के स्वागत में लगा है। किन्तु सरस्वती का मन आँगन में प्रवेश करते ही न जाने क्यों उसे कचोट खा रहा है। मन में सरस्वती सोच रही है वास्तव में यह उसका उपहास किया जा रहा है। वह क्यों बाजारू सौदे की तरह समझी जाय, और दूसरे को यह हक हो कि वह उसका मूल्य आँके, उसे ठुकरा दे या सिर चढ़ा दे। तथापि कोलाहल से भरे घर में वह किसी के स्वर की ओर श्रुति-केन्द्रित किये हुए थी। काँपते हुए वह पुनः ऊपर लौट गई। उसके पीछे ही अम्मा ऊपर चढ़ आई। बड़े स्नेह-सिंचित स्वर में बोली, "उठो बेटी, इस कमरे में मेहमानों को ठहरा दो। इतना नहीं लजाते।" किन्तु सरस्वती ने उठ चलने की इच्छा प्रकट करने की अपेक्षा मुँह ढाँप लेना चाहा।

अम्मा ने उसका आँचल झटकते हुए कहा, "अरे उठ! देख तो मेहमानों में एक तो ऐसे हैं जो संगीत-सम्मेलन के जाने के लिए तैयारी कर रहे है। तू नहीं उठेगी।"

इतना कहकर अम्मा उसे अकेली छोड़ गईं। सरस्वती को यह समझते देर न लगी कि वह संगीत विशारद मेहमान कौन हो सकते हैं। उसे भी संगीत का व्यसन है। एक स्पर्धा की भावना उसमें जागरूक हो उठी। बीते क्षणों में जीवन-साथी की उपलब्धि के लिए परीक्षा में बैठने के विचार से जो वह अन्दर-ही-अन्दर दब गई थी, इससे

अपना उद्धार पाने की भावना उसमें भर उठी। सरस्वती यह तो भूल ही गई थी कि एक पुण्यमानों परिवार में जन्म लेकर भी से अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे हर सम्भव सुविधा दी गई है। उसके पिता एक मिडिल स्कूल में अध्यापक हैं। इसलिए उसकी शिक्षा उस विद्यालय से आगे नहीं बढ़ पाई। किन्तु अध्यापक जी ने समस्त बपौती प्रतिभाएँ उसे देने में कसर उठा नहीं रखी है। वे सितार बजाना जानते थे और पुत्री को भी उसमें पारंगत कर दिया था। अध्यापक जी राग-रागिनियों के पक्ष में थे, किन्तु सरस्वती के आधुनिकता-प्रिय होने पर भी उन्होंने पहरा नहीं बैठाया था। सरस्वती नये प्रकाश में रह रही है। इस प्रकाश में चमक उठने को भी भावना यदा-कदा उसके मन में उठी है। किन्तु उसके कुलागत संस्कार और मां के बन्धन सदैव उसे सीमित रहने पर बाध्य करते रहे हैं। सरस्वती ने कभी विद्रोह नहीं किया। किन्तु अन्दर-ही-अन्दर वह प्रबुद्ध होती गई है। नवागन्तुक युवक के प्रति जो लाज उसने अपने अन्तर में भर ली है, वह यकायक उसके हृदय से दूर नहीं हो पा रही थी। पर बार-बार वह सोचती है कि उसका संकोच निराधार है। और उसके सम्पर्क में आने के अवसर को वह हाथ से नहीं जाने देगी।

सरस्वती की माता जी उसकी प्रकृति से परिचित थीं, और ऐसे अवसर पर हर माता अपनी पुत्री की प्रकृति को भली भाँति समझ लेती है।

उन्होंने सरस्वती को बुलाकर कहा कि वह एक पत्र ऊपर दे आय तो वह युवक का नाम भी जान गई। पत्र लेकर सरस्वती ऊपर चली गई। मनोजकुमार के हाथ में वह पत्र उसने दे दिया। वह तत्काल उसका अनुग्रह अनुभव करके पत्र पढ़ने लगा। सरस्वती ने पूछा, "किसका पत्र है?" सरस्वती जैसे वहाँ अटकना चाहती हो।

"किसी का नहीं आपको बतलाने से भी क्या लाभ होगा। आप प्रेषक को जानती नहीं," मनोज ने कहा।

सरस्वती अनिच्छा से ही वह प्रश्न कर गई थी। इससे तो अच्छा यही होता कि वह उस प्रश्न का उत्तर ही न देता। लज्जा के कारण उसका मुँह लाल हो गया। बोली, "मेरे पूछने का विशेष प्रयोजन नहीं है।" और वह सितार इत्यादि कमरे को वस्तुओं को पुनः यत्न से रखने लगी थी, यद्यपि उनके ठीक से रखने की विशेष आवश्यकता नहीं है। पत्र पढ़ लेने के उपरान्त उसने सरस्वती की ओर पत्र बढ़ा दिया। "लीजिये आप भी देख लीजिये, मेरे एक मित्र का पत्र है। सङ्गीत-सम्मेलन में प्रथम आने की कामना की है।"

सरस्वती और भी अचकचा गई। बोली, "नहीं तो मेरा कोई भी विशेष प्रयोजन नहीं था। आपका पत्र मैं क्यों पढ़ूँ।" सरस्वती कमरे से बाहर निकल गई। लेकिन अपनी भूल पर पछताती गई। शायद यह कुछ इधर-उधर समझ बैठे। इधर-उधर वह क्या समझ सकते हैं। यह भी बात नहीं कि वह समझ नहीं सकती!

सरस्वती के यह प्रश्न करने से पहले तक मनोज ने शायद उसकी तरफ गौर से देखा भी नहीं था। लेकिन वास्तव में वह सब-कुछ इस एक ही बार में देखा गया। उसने विधाता से शिकायत की उसने थोड़ी सी असावधानी से एक फूल को त्रिशूल बना दिया। प्रयत्न करने पर वह भी अपने हास्य को न रोक सका। "सरस्वती की नाक भी क्या है, कन्या-कुमारी अन्तरीप ही है, और अम्मा इसी लड़की की प्रशंसा करती न थकती थीं।" उसी हास्य-मुद्रा में मनोज ने उस वस्तु को देखा जिसे सरस्वती यत्न से रख रही थी। और पाया कि वह एक पुराना सितार है। मनोज नीचे उतर आया। पूछा, "ऊपर सितार किसका है, कौन बजाता है?"

सरस्वती ने भी यह प्रश्न सुना किन्तु इसका उत्तर अम्मा ने ही दिया, "सरस्वती के पिता जी का है। बजा सरस्वती भी लेती है। उन्हें आजकल शौक नहीं रहा है।"

इस उत्तर से मनोज की माता बहुत प्रसन्न हुई बोली, "तो बहन, तुमने लड़की को सोने में सुहागा बना दिया है। मैं तो इसके सीने-पिरोने को ही देखकर अचरज में रह गई थी। बेटा सरस्वती, हमें नहीं सुनाओगी अपना गाना।"

सरस्वती ने इस प्रशंसा के भार से झुककर कहा कि वह गाना-बजाना कुछ नहीं जानती। कभी-कभी शौकिया गुनगुना लेती है। लेकिन उन्होंने गाना सुनने की जिद की तो सरस्वती परेशान हो उठी। मनोज के हृदय से हास्य की भावना निकली नहीं थी। बोला, "रहने भी दीजिये। आर्टिस्ट बिना मूड के नहीं गाते। क्यों सरस्वती जी?"

मनोज के वचन में व्यंग ही अधिक था। जिसे सुनकर सरस्वती अन्दर-ही-अन्दर विद्रोह कर बैठी। गाने-बजाने की बातचीत से मनोज को संगीत-सम्मेलन की याद आ गई। सीटी बजाता वह पुन: ऊपर चढ़ आया। अपना सितार उठाकर उसकी परीक्षा लेने की इच्छा से कुछ स्वर भरा था, किन्तु जब नीचे से सभी काम छोड़कर सुनने के लिए आ बैठे तो उसे वाणी से भी उस स्वर को मूर्त रूप देना पड़ा। वास्तव में मनोज के स्वर में मधु था, अभ्यास था और एक विशेष सोज़ था जो दो माताओं और तीसरी कुमारी को विह्वल किये बिना न रह सका। सरस्वती गाने के अलावा भी देख रही थी उसका पुष्ट अंग, उसकी शरबती आँखें, उसके घुँघराले केश, और न जाने क्या कुछ और जो अव्यक्त था और जिसके व्यक्त होने की आवश्यकता भी न थी। मनोज की पूरी रागिनी ने काफी समय लिया। उसके समाप्त करते ही मनोज

की माता ने सरस्वती को गोद में सितार रख दिया, "लो बेटी; जरा कुछ सुनाओ तो, दो बोल ही सही।"

इस बार सरस्वती की अम्मा भी पीछे नहीं थीं, शायद वह भी अपनी बेटी को उनके बेटे से कम देखना नहीं चाहती थीं। उन्होंने भूमिका बाँधी, "हाँ-हाँ कुछ सुनाओ। अगर ठीक न होगा तो मनोज बाबू ठीक कर देंगे। विद्याभ्यास में शरमाना क्या ?"

सरस्वती के हृदय में भी अबकी बार मना करने की इच्छा नहीं थी उसने अपना सितार उठा लिया और मीरा का एक राग उसके स्वरों में भर लिया। श्रोता ठीक उसी प्रकार मंत्र-मुग्ध हो उठे। इस बार दोनों माताओं के साथ युवक भी मुग्ध होकर सोच रहा था, "काश! ईश्वर इसके मुख पर यह नासिका इतनी कुरूप न बनाई होती, तो वह निश्चय ही उसे पाकर कितना सुखी होता। उसकी देह-यष्टि, उसका स्वर्ण के समान दमकता वर्ण, उसकी वाणी का माधुर्य, यह सभी ग्राह्य है, किन्तु·········।"

रागिनी समाप्त होने में मनोज की माता यद्यपि प्रशंसकों में सबसे आगे थीं किन्तु मनोज भी उसकी प्रशंसा किये बिना न रह सका। यद्यपि उसने सरस्वती के विषय में अपना चिन्तन 'किन्तु' पर समाप्त किया था, पर सरस्वती उसके मस्तिष्क में से निकल न सकी। उसके हृदय में संग्राम छिड़ रहा था। पर सरस्वती को पाना भी चाहता है और ठुकराना भी चाहता है, किन्तु इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाता कि पा ले या ठुकरा दे।

सरस्वती के पिता जी प्रत्येक शनिवार की संध्या को घर आते हैं और रविवार को आवश्यकता की वस्तुएँ जुटाकर चले जाते हैं। इस बार घर की स्थिति को देखकर उनके संस्कारों में कुछ उथल-पुथल-सी

हुई। सरस्वती का मनोज के समीप बैठना उन्हें कदाचित् सह्य न था। शयन के समय पर मास्टर जी ने पत्नी को बुलाकर पूछा, "यह सब क्या ठाट हो रहे हैं ?"

सरस्वती की अम्मा ने स्वभावतः कहा कि उनकी सहेली आई हैं जिनके लड़के से सरस्वती के रिश्ते की बात वह बहुत दिन से चलाती आ रही हैं। लड़के की माँ और लड़का सरस्वती को देखने आए हैं।

मास्टर जी ने कहा, "लेकिन लड़की को इतनी आजादी देने से क्या लाभ। देख लिया ? हमें छुट्टी हुई। जवान लड़की है, कुछ तो खयाल रखा जाता है ?"

"मैं तो लिहाज रखकर ही चल रही हूँ लेकिन पास उठने-बैठने में क्या हानि है। आखिर लड़के की भी तो सलाह लेनी है।"

"तो यह कहो कि विलायती चाल चल रही हो।" मास्टर जी ने तुनककर कहा। मास्टरनी जी ने यह सोचा न था कि वह बात को इतना बढ़ाकर पेश करेंगे। अपने लिए वह चाहे कुछ भी सुन लें किन्तु लड़की के विषय में यह सुनना और स्वयं लड़की के बाप के मुँह से, यह उन्हें सहन न हुआ। बोली, "हाँ, विलायती ढंग ही सही। पास रहने की महत्ता तुम क्या जानों। साथ रहने से तो जानवरों में भी मुहब्बत हो जाती है घर से दूर रहकर जैसे तुम्हें किसी से मुहब्बत नहीं रही। सारी उम्र स्कूल में लड़कों की खोपड़ी खाकर सिवाय मीन-मेख निकालने के कुछ और भी बात आती है। मैं तो लड़की उन्हें दे चुकी हूँ। बस, हाथ पीले होना बाकी रह गया है।"

मास्टर जी अपनी पत्नी के तर्क से चाहे पराजित न हुए हों, लेकिन अपने नीरस होने की चुनौती उनके दिल को कचोट गई। आखिर

उनका दुर्भाग्य तो था ही कि कभी एक क्षण भी संतोष से वह अपने बच्चों के साथ न बैठ सके। बात आगे बढ़ाना उचित न समझ, वह एक गिलास ठण्डा पानी पीकर सो गए।

× × ×

मनोज के मन में सरस्वती सशरीर घूमकर रह गई थी। बार-बार उसके हृदय में जो चीज दीवार की तरह अड़ जाती वह थी सरस्वती की लम्बी नाक। सरस्वती चाहे जैसी हो, वह उसकी पत्नी बनने योग्य है। नहीं। आखिर उसके मित्र उसकी खोज पर किस प्रकार बधाई दे सकेंगे ? किन्तु सरस्वती उसके हृदय की एक-एक तंत्री को झंकृत कर चुकी थी। आज जब वह सङ्गीत-सम्मेलन-भवन देखने गया तो उसी के विषय में सोचता रहा। बार-बार वह अपने-आपसे कह उठता-क्या ही अच्छा होता जो वह मनुष्य होने के स्थान पर एक तुच्छ पशु ही होता जहाँ सबको आजादी से विचरने का अधिकार है। और एक वह अशक्त मानव ? उससे तो वास्तव में वह भौंरा ही अच्छा है जो मनचीते पुष्प में एक रात बंद रहता है और भोर होते ही उन्मुक्त हो जाता है।"

सरस्वती के अपनी ओर झुकाव का वह पूरी तरह से लाभ उठाना चाहता था। उसे यह भी विश्वास था कि सरस्वती उसके कहे को टालेगी नहीं और उसको माता जी उसे और भी प्रोत्साहन देंगी। उसने सोचा कि वह सरस्वती को सङ्गीत का अभ्यास कराने के लिए अवश्य ही अपने निकट रख सकेगा।

सरस्वती ने मनोज का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तो मनोज ने उसमें सुधार चाहा। उसने कहा—"अच्छा तो यह हो सरस्वती कि घर की चार-दीवारी से बाहर निकलकर सात्विक सङ्गीत का अभ्यास किया जाय"।

सरस्वती बोली, "इसकी तो सुविधा नहीं होगी प्रथम तो पिता जी इसके विरुद्ध हैं । दूसरे जङ्गल में सङ्गीत का अभ्यास कैसे होगा। सितार कौन लादता फिरेगा ?"

"सरस्वती देवी ? जङ्गल के अनन्त सङ्गीतमय वातावरण के लिए सितार की क्या आवश्यकता है । प्रकृति का अनहद राग जिसमें असंख्य वीणाओं के तार झंकृत हुआ करते हैं जिसका अणु एक मधुर सात्विक तान से प्लावित है, ऐसी प्रकृति के लिए भी साजो-सामान की आवश्यकता है ?" मनोज ने कहा।

"साजो-सामान की आवश्यकता न सही लेकिन आवाज भी तो खुले आसमान में नहीं बँध सकती ।" सरस्वती ने आक्षेप किया।

"यह दलील तो वह लोग पेश करते हैं सरस्वती देवी ? जिनकी आवाज़ दबी होती है। उफ़ ! प्रकृति के एक-एक निकुञ्ज से निकलने वाला सङ्गीत कितनी प्राणोदना लिये होता है । क्या किया जाय ? भारत की अब प्राचीन परम्पराएँ ही नष्ट हो गईं ।"

इतना सुनकर भी सरस्वती चुप हो रही। यद्यपि मनोज की बातों का उसने कोई अर्थ न समझा था किन्तु उसके तर्क की पृष्ठभूमि से कोई कह रहा था कि मनोज उसे अपने निकट लाना चाहता है। मनोज पर उसकी खामोशी का प्रभाव कुछ संतोषजनक नहीं पड़ा । सरस्वती को अपनी बात के प्रति आश्वस्त करने के लिए उसने पुनः एक भूमिका बाँधनी आरम्भ की, "सरस्वती देवी, हमारे आज के कलाकार क्या जानें प्रकृति का सङ्गीत। विदेशी कलाकारों ने उसे सुना है और आत्म-सात् किया है । कमाल किया है उन गायकों ने । जर्मनी के अमर कलाकार विटोविन और मोजार्ट को जानती हो, बाबा हरिदास, बैजू बावरा और तानसेन को जानती हो ? वह प्रकृति का सङ्गीत सुना करते

थे और प्रकृति को ही अपना सङ्गीत सुनाते भी थे।

यद्यपि इन बातों को आरम्भ करके मनोज प्रसंग के बाहर पहुँच गया था, किन्तु सम्भाषण करते-करते यकायक जो आवेश उसके अन्दर भर गया था, उसे खाली किये बगैर वह न रह सका। सरस्वती ने जङ्गल का सङ्गीत सुनना स्वीकार कर लिया था।

सरस्वती और मनोज को एक साथ घूमने जाने की आज्ञा मिल गई। यों कितनी ही बार सरस्वती पार्कों में घूमने गई हैं, किन्तु आज मनोज के साथ चलते उसे अजीब रोमान्स अनुभव हो रहा है। पार्क की चहल-पहल ने उसे आनन्दित कर दिया। बातचीत के सिलसिले में वह काफी अन्दर पहुँच गए। कुछ नया प्रसंग छेड़ने के लिए सरस्वती ने कहा, "इतनी भीड़ में आपके प्रकृति के सङ्गीत का क्या होगा।"

"आओ, कुछ देर यहीं बैठें। सङ्गीत भी होगा।"

"तो फिर किधर बैठें?"

"आओ उन फूलों के पास बैठें।"

बैठते-बैठते एक फूल हाथ में लेकर मनोज ने कहा, "रात्रि को कितने एकाकी-प्रतीत होते हैं ये पुष्प। दिन होता तो इनपर भौंरे गूँजते होते।"

सरस्वती फूल तोड़ने बढ़ी। सिर पर खड़े मौलसिरी के वृक्ष पर से कोई पक्षी उड़ा। ढेर से पुष्प उसके ऊपर आ गिरे। वह भयभीत-रोमाञ्चित हो उठी। किन्तु लाल फूलों की शुभ वर्षा देखकर वह और भी भावुक होकर लौटी। मनोज के निकट बैठ गई। मनोज सरस्वती को चुप बैठे देख बोला, "कुछ बोलो सरस्वती—? चुप होने पर बड़ी दूर-दूर दीखने लगती हो।"

"आप ही कुछ कहें।"

"मैं कहूँ...मैं तो तुम्हारे सामने एक प्रस्ताव रखना चाहता हूँ।"

"क्या जङ्गल के सङ्गीत से अलग प्रस्ताव होगा।"

"सरस्वती, यदि तुम्हें अरुचिकर हो तो क्षमा कर देना। प्रस्ताव किन्तु अवश्य ही इससे अलग होगा।"

"तो प्रकट न करें। मैं प्रस्ताव को स्वयं समझने की कोशिश करूँगी। आपके मन को कुछ चीन्हने लगी हूँ।"

"नहीं सरस्वती अभी तुम्हें चीजों के विषय में वैज्ञानिक चिन्तन करना नहीं आता! प्रस्ताव और जङ्गल का सङ्गीत यद्यपि देखने में भिन्न प्रतीत होते हैं किंतु दोनों में समान उन्मुक्तता है, दोनों में समान आजादी है। जिस प्रकार सङ्गीत से आंतरिक भावनाओं का विश्व विशाल होने के लिए आकुल हो उठता है, उसी प्रकार मेरे प्रस्ताव से हमारी अवैज्ञानिकता दूर होगी।"

सरस्वती चुप रही। मनोज ने फिर निकट आते हुए कहा, "सरस्वती मैं यही सोच रहा हूँ कि हमसे तो यह प्रकृति ही अधिक आनन्दमय है। यह जो गुलाब के फूल तुम सामने देख रही हो, क्या मालूम कौन-कौन अपने कठोर दंशनों से इन्हें विह्वल बनाकर छोड़ गए हैं। किन्तु यह कितने प्रसन्न दीख पड़ते हैं। प्रकृति का स्वभाव कितना उदार और स्वस्थ है।"

सरस्वती चुप है। मनोज के निकट सरक आने से और उसके श्वास के स्कन्ध-स्पर्श करने से जो सिहरन उसमें पैदा हो गई है वह इतनी मीठी है कि इच्छा रहते हुए भी वह वहाँ से नहीं हट पाती। मनोज की आँखों की मादकता, जो धीरे-धीरे उसकी आँखों में भी उतरती आ रही है, ऐसी वीभत्स लग रही है, जैसे कोई कामुक बिलाव अपने प्रतिद्वन्द्वी पर आँख चमकाकर गुर्रा रहा हो। सहसा सामने विलायती पौधे का फूल तोड़कर उसने उसकी आँखों पर फेंक मारा।

"आप आँखें बंद कीजिए और शीघ्र घर चलिए।" मनोज अपने प्रयत्नों का घर की चार-दीवारी में फलीभूत होना जैसे असम्भव समझता था। वह और आगे बढ़ गया, "सरस्वती, मैं तुमसे एक प्रश्न जो करना चाहता था।"

"मैं आपके प्रस्ताव को समझ चुकी हूँ।"

"तुम समझ चुकी हो ?" मनोज ने बड़ी व्यग्रता से कहा।

"लेकिन जङ्गल के गान और आपके प्रस्ताव में तो कोई सामञ्जस्य नहीं है।"

"यही तो मैं तुम्हें समझाना चाहता हूँ कि वह दोनों एक हैं।"

"लेकिन आप प्रतीक्षा करें तो अच्छा हो। कोई भी प्रस्ताव यदि घर पर ही किया जाय तो उस पर शांति से विचार किया जा सकता है।" यह कहती हुई सरस्वती उठ खड़ी हुई। मनोज भी उसके साथ उठने लगा। हर्ष और उन्माद से सरस्वती का अङ्ग-प्रत्यङ्ग छलका पड़ता था और मनोज के मन पर भारीपन का पर्दा पड़ गया था, जैसे मञ्जिल पर पहुँचे हुए यात्री को एक और लम्बी यात्रा बता दी गई हो।

आज रात्रि-भर मनोज को नींद नहीं आई, कारण कि सरस्वती प्रस्ताव को जानकर भी उसकी रूपरेखा पूछने नहीं आई। मनोज को सरस्वती के अधिक न खड़े होने पर क्रोध आ रहा था। काश ? वह फ्रायड का मनोविज्ञान जानती होती। तब क्यों अपनी फूल-सी देह पर संयम के बलात्कार की अग्नि रोपित करती। सरस्वती के निर्णय की जिज्ञासा में वह उसके कमरे की ओर चल पड़ा।

उसने देखा कि शुक्ल पक्षीय चन्द्र वातायन से उस नवयौवना के स्निग्ध वदन को झाँक रहा है। शीत काल था, किन्तु सरस्वती की देह जैसे सम्पूर्ण शरद् के प्रति एक जीवित चुनौती थी। शारदीय वस्त्रों से

उन्मुक्त उसका गठित वक्ष ऐसा लग रहा था कि तूफान के मध्य पृथ्वी पर पड़ी शिला बालू का परिधान ओढ़कर छिप गई हो। मनोज क्षण-भर उसकी ओर देखता रहा। सरस्वती ने अँगड़ाई ली। मनोज के मुँह से आवाज़ निकल गई। कई बार आवाज़ लगाई। आखिर काल और स्थान के औचित्य को लाँघकर उसकी पुकार सरस्वती के कानों में पहुँच ही गई। हड़बड़ाकर वह उठ बैठी। खिड़की की ओर लपककर बोली, "आप कब से यहाँ खड़े हैं?"

"मैं तो संध्या से ही इधर खड़ा हूँ।"

"हाय, माँ? बड़ा गजब कर रहे हैं आप? ऊपर से कितना शीत पड़ रहा है? जाइए न अपने कमरे में?" सरस्वती कुछ रुआसी हो उठी।

"लेकिन मैं······।"

तो अन्दर ही आ जाइए न! सोचिए तो अगर बाहर कोई इस तरह आपको खड़ा देख ले तो बदनामी न होगी?"

मनोज तत्काल अन्दर चला गया। शीत में खड़े रहने पर जिस मनोदशा में खड़ा था, वह कमरे के अन्दर आकर गर्माई की इच्छा से भर उठी। गर्म बिस्तर की उष्णता में वह किसी अन्य का आभास पा रहा था।

सरस्वती अकेली खड़ी रह गई। मनोज बोला, "सरस्वती तुम?"

"मैं जाती हूँ।"

"तो फिर······मैं भी जाता हूँ। मेरे आने से लाभ?"

सरस्वती न जा सकी। उसने जाना भी न चाहा।

सरस्वती का यह सप्ताह जितने आनन्द से कटा उसे शायद वह स्वर्ण लेखनी से लिखे जाने योग्य समझती है। इस शनि को मास्टर

जो स्कूल से लौटे, तो देखा उनकी पुत्री कुछ गम्भीर हो गई है। सरस्वती की माँ ने कहा कि अब विवाह की तैयारी करें। मास्टर जी ने अपने होने वाले जामाता के अपनत्व का परिचय देते हुए उसे जीवन के गुरुतर दायित्वों का संक्षिप्त परिचय कराया और शीघ्र ही विवाह-तिथि निश्चित करने की माँग की। मनोज की माता सरस्वती से बहुत संतुष्ट थी। क्योंकि वह उनके पुत्र को जीवन की डोर में बाँध देने में सफल हो गई थी।

लेकिन एक प्रातःकाल सरस्वती ज्यों ही अपने पूज्य देव के दर्शन करके कृतार्थ होने गई, उसने देखा कि पलंग खाली पड़ा है और सिर के समीप दीवार पर कुछ ऊल-जलूल चित्र बने हैं। सरस्वती बड़े परिश्रम से जान पाई कि वह चित्र उनकी भाग्य-लिपि को स्पष्ट कर रहे थे। चित्र में दो-तीन फूल से बने हैं और ऊपर एक भौंरा उड़ रहा है और पास में थी लम्बी नाक, जिसे देखकर उसका कलेजा धक् से रह गया। जिस नाक के लघुत्व की मनौती वह भगवान् से मनाया करती थी आज उसे अपने हाथ से ही······।

पलंग के वस्त्र उलट-पुलट कर सरस्वती ने देखा कि न माँ के लिए कोई सूचना है और न सरस्वती के लिए। सरस्वती की माता ने दोनों हाथों से अपना सिर फोड़ लिया।